202 MA HIN

by Cde Anu

Submission date: 26-Jul-2025 01:17PM (UTC+0530)
Submission ID: 2720717111
File name: 202_M.A._HINDI_-_TL.pdf (7.29M)
Word count: 61041
Character count: 180360

पाश्चात्य काव्य शास्त्र

एम.ए., हिन्दी Semester-II, Paper-II

पाठ लेखक

डॉ. पिराजीसेनकांबळे मनोहर
एम.ए., एम, फिल., पी-एच.डी.
हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय

डॉ. सूर्य कुमारी .पी.
एम.ए., एम, फिल., पी-एच.डी.
हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय

डॉ. आनंद
एम.ए., एम, फिल., पी-एच.डी.
सेंट मेरीज जूनियर कॉलेज
हैदराबाद

पाठ लेखक और संपादक

डॉ. मंजुला
एम.ए., एम, फिल., पी-एच.डी.
हिन्दी विभाग
रामकृष्ण हिंदू हाई स्कूल
अमरावती, गुंटूर।

निर्देशक

डॉ.नागराजूबट्टू
एम.एच.आर.एम., एम.बी.ए., एल.एल.बी., एम.ए., (मनो) एम.ए., (सामा) एम.ई.डी., एम.फिल., पी-एच.डी
दूरस्थ शिक्षा केंद्र, आचार्य नागार्जुना विश्वविद्यालय
नागार्जुना नगर-522510
Phone No-0863-2346208, 0863-2346222,
0863-2346259 (अध्ययन सामग्री)
Website: www.anucde.info
E-mail: anucdesemester2021@gmail.com

एम.ए., हिन्दी

First Edition: 2021

Reprint :

No. of Copies:

©Acharya Nagarjuna University

This book is exclusively prepared for the use of students of एम.ए., हिन्दी Centre for Distance Education, Acharya Nagarjuna University and this book is meant for limited circulation only.

Published by:

Dr. NAGARAJU BATTU,
Director

Centre for Distance Education,
Acharya Nagarjuna University

Printed at:

FOREWORD

Since its establishment in 1976, Acharya Nagarjuna University has been forging ahead in the path of progress and dynamism, offering a variety of courses and research contributions. I am extremely happy that by gaining 'A' grade from the NAAC in the year 2016, Acharya Nagarjuna University is offering educational opportunities at the UG, PG levels apart from research degrees to students from over 443 affiliated colleges spread over the two districts of Guntur and Prakasam.

The University has also started the Centre for Distance Education in 2003-04 with the aim of taking higher education to the door step of all the sectors of the society. The centre will be a great help to those who cannot join in colleges, those who cannot afford the exorbitant fees as regular students, and even to housewives desirous of pursuing higher studies. Acharya Nagarjuna University has started offering B.A., and B.Com courses at the Degree level and M.A., M.Com., M.Sc., M.B.A., and L.L.M., courses at the PG level from the academic year 2003-2004 onwards.

To facilitate easier understanding by students studying through the distance mode, these self-instruction materials have been prepared by eminent and experienced teachers. The lessons have been drafted with great care and expertise in the stipulated time by these teachers. Constructive ideas and scholarly suggestions are welcome from students and teachers involved respectively. Such ideas will be incorporated for the greater efficacy of this distance mode of education. For clarification of doubts and feedback, weekly classes and contact classes will be arranged at the UG and PG levels respectively.

It is my aim that students getting higher education through the Centre for Distance Education should improve their qualification, have better employment opportunities and in turn be part of country's progress. It is my fond desire that in the years to come, the Centre for Distance Education will go from strength to strength in the form of new courses and by catering to larger number of people. My congratulations to all the Directors, Academic Coordinators, Editors and Lesson-writers of the Centre who have helped in these endeavors.

Prof. P. Raja Sekhar
Vice-Chancellor
Acharya Nagarjuna University

SEMESTER - II

202HN21 - **PAPER - II : THEORY OF LITERATURE (WESTERN)**

पाश्चात्य काव्य शास्त्र

<u>पाठ्य पुस्तकें</u> :

1.पाश्चात्य काव्यशास्त्र - डॉ. विजयपाल सिंह, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

2.पाश्चात्य काव्य शास्त्र - देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

<u>पाठ्यांश</u> :

1.अ. पाश्चात्य काव्य शास्त्र (प्राचीन) । प्लेटो - काव्य प्रेरणा का सिद्धांत, अनुकृति, काव्य पर आरोप ।

अरस्तु : अनुकृति, त्रासदी और उसके तत्व, विरेचन ।

लोंजाइनस : काव्य में उदात्त तत्व, उदात्त की अवधारणा ।

आ. पाश्चात्य काव्य शास्त्र : (अर्वाचीन) आई. एस. रिचर्डस् - मूल्य एवं सम्प्रेषण का सिद्धांत, भाषा के विशिष्ट प्रयोग, आलोचक के गुण ।

टी.एस. इलियट - परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा, वस्तुनिष्ठ समीकरण, निवैयक्तिकता का सिद्धांत ।

एफ. आर. लेविस - मूल्य - विवेचन ।

2. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : आधार और आदि रचना, साहित्य और बर्ग संघर्ष, साहित्य और विचार प्रणाली, आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद, प्रतिबद्धता और पक्षधरता ।

अस्तित्ववादी साहित्य चिंतन :

3. साहित्य रूपों का अध्ययन ।

काव्यरूपों का अध्ययनः महाकाव्य, प्रबंध काव्य, मुक्तक काव्य, गीति काव्य आदि ।

उपन्यास और कहानी

नाटक और एकांकी

निबंध

रेखाचित्र

संस्मरण

<u>सहायक ग्रंथ</u> :

1. भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र - डॉ. अर्चना श्रीवास्तव - विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक पो.बां. 1149, वाराणसी ।

2. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धांत - डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली - 110 006 ।

Dr. K. SRIKRISHNA. M.A.,Ph.D
Asst. Co-ordinator
DEPARTMENT OF HINDI
ACHARYA NAGARJUNA UNIVERSITY
NAGARJUNA NAGAR - 522 ...

M. A. Hindi 1st year IInd Semister paper – II

Theory of literature (Western)

पाश्चात्य काव्य शास्त्र

अनुक्रमणिका

।. पाश्चात्य काव्य शास्त्र- उद्भव और विकास 1.1 - 1.11

2.प्लेटो -काव्य प्रेरणा का सिद्धांत, अनुकृति 2.1 - 2.10

3. अरस्तु – अनुकृति, त्रासदी और उसके तत्व, विरेचन 3.1- 3.16

4. लोंजाइनस – काव्य में उदात्त तत्व, उदात्त की अवधारणा 4.1 - 4.16

5. आई. एस. रिचर्ड्स- मूल्य एवं सम्प्रेषण का सिद्धांत 5.1 - 5.18

6. टी. एस. इलियट – परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत 6.1 - 6.10

7. एफ. आर. लेविस- मूल्य विवेचन 7.1 - 7.18

8. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन – आधार और अधिरचना और वर्ग संघर्ष (यथार्थवाद, अस्तित्ववादी साहित्य चिंतन) 8.1 - 8.17

9. साहित्य रुपों का अध्ययन- काव्य (महाकाव्य, खण्ड काव्य, मुक्तक काव्य, गीति काव्य) 9.1 - 9.15

10. साहित्य रूपों का अध्ययन गद्य (उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबंध, रेखाचित्र और संस्मरण) 10.1 - 10.17

11. क्रोचे : अभिव्यंजनावाद 11.1 - 11

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का उद्भव और विकास

1.0. उद्देश्य :

इस पाठ में हम पाश्चात्य काव्य शास्त्र का विकास कब से, कहाँ से आरंभ हुआ और इसका विकास किस तरह हुआ और प्रमुख यूनानी / ग्रीक आलोचकों के बारे में, उनके काव्य संबंधी मान्यताओं के बारे में थोड़ा परिचय प्राप्त करेंगे। इसका सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक पृष्ठभूमि के बारे में जान लेंगे।

इकाई- I

1.1. प्रस्तावना

1.2. पाश्चात्य काव्य शास्त्र का उद्भव और विकास

1.3. ग्रीक आलोचक

1.4. रोमी समीक्षा

1.5. अंधा युग था पूर्व मद्ययुग

1.6. अंग्रेजी काव्य शास्त्र या पुनर्जागरण काल

1.7. नवशास्त्रवादी युग या कलासिकवाद

1.8. स्वच्छन्दतावादी विचारधारा

1.9. विक्टोरियनयुग

1.10. मार्क्सवादी समीक्षा

1.11. सारांश

बोध प्रश्न

संदर्भ ग्रंथ

1.1. प्रस्तावना:

पाश्चात्य शब्द का आशय पर्याय विस्तृत हैं। पाश्चात्य देशों से यूरोप के सभी देश समझ जाते हैं। इसके अतिरिक्त अमेरिका और आस्ट्रेलिया की गणना भी पश्चिमी देशों में होती। क्योंकि यहाँ भी पश्चिमी सभ्यता की साम्राज्य है और पश्चिमी जातियों में प्रमुख अंग्रेजों का वर्चस्व है। आज पाश्चात्य देशों के नाम से जो देश समुन्नत एवं समृद्ध हैं। उनकी सभ्यता सबसे अधिक प्राचीन है। पश्चिम में सभ्यता का प्रकाश सबसे पहले यूनान में फैला। उसके बाद रोम सभ्यता का विकास हुआ। अंग्रेजी सभ्यता का विकास-क्रम तीसरा है। पाश्चात्य समीक्षा भी सबसे पहले यूनान में, उसके बाद रोम में और उसके बाद इंगलैंड में प्रचार-प्रसार को प्राप्त हुई। पाश्चात्य काव्य - शास्त्र का उद्भव यूनान में हुआ। इसके पश्चात इसका विकास लैटिन और इंगलैंड तथा अन्य पश्चिमी देशों में हुआ। भारतीय समीक्षा का प्रारंभ आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' में माना जाता है यद्यपि इनके पहले भी साहित्य के विविध पदों पर व्यापक विचार विमर्श हुआ था। उसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरम्भ यद्यपि ईसा की पांच वीं शताब्दी पूर्व सुप्रसिद्ध यूनानी चिंतक प्लेटो से माना जाता है, तथापि उनके पूर्व वहाँ अनेक ऐसे चिन्तकों और दार्शनिकों का आविर्भाव हो चुका था जिनकी साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं की झलक यत्र-तत्र दिखलाई पड़ती है।

1.2. पाश्चात्य काव्य शास्त्र का उद्भव और विकास :

'भरत मुनि' ने नाट्य शास्त्र की रचना चारों वेदों के आधार पर की तथा उनके ग्रंथ को पंचमवेद माना गया। उन्होंने 'रस' सिद्धांत का प्रतिपादन नाटक परिप्रेक्ष्य में किया। प्राचीन ग्रीक साहित्य चिंतन का आरंभ भी नाटकों के सन्दर्भ में ही हुआ। प्राचीन ग्रीस में नाटकों का विशेष महत्व था। ये नाटक धार्मिक उत्सवों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध थे। कुछ विद्वानों ने इसी कारण अरस्तु के विवेचन सिद्धांत की व्याख्या इसी धार्मिक परिप्रेक्ष्य में की।

प्राचीन यूनान का साहित्य अत्यन्त समृद्ध और अनेक रूप हैं। इस विविधता पूर्ण साहित्य के, समग्र पाश्चात्य जगत आज तक प्रेरणा पाता है। प्राचीन ग्रीस में महाकाव्य, नाटक - दुखांत व सुखांत - गीत, शोक गीत आदि अनेक विधाओं का विकास हुआ। महाकवि होमर रचित 'इलियड' तथा 'आडेसी' विश्व विख्यात हैं। सोफोक्लीज एथेन्स का प्रसिद्ध कवि और त्रासदीकार था। इन्होंने 120 नाटकों की रचना की, पर अब केवल 7 ही उपलब्ध है। इनमें 'एजक्स ,एडिगोनी, ईडिपस' विश्व विख्यात रचनाएँ हैं। अरिस्टोफेनेस, एस्काइलम भी लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार थे।

वस्तुतः साहित्य सर्जना पहले होती है, आलोचना उसका अनुगमन करती है। प्राचीन यूनान में भी पर्याप्त साहित्य सर्जन होने के बाद ही साहित्य की सर्जना, प्रयोजन , प्रभाव, उपादेयता

आदि पर विचार किया जाने लगा। प्राचीन ग्रीक के सम्पूर्ण साहित्य में जीवन की अनेक समस्याओं, विषमताओं, संघर्षों आदि का चित्रण हुआ है। ग्रीक साहित्य में किसी अदृश्य शक्ति 'नियति' द्वारा मानव जीवन की संचालित माना गया है। वह अदृश्य व सर्व शक्तिमान सत्ता ही मानव जीवन का नियंत्रण करती है। उस डेस्टिनी के हाथों में मनुष्य मात्र एक खिलोना है। कालांतर में काव्य के साथ-साथ भाषण कला का प्रभाव भी बढ़ा। भाषण कला के विकास में भाषा शैली व अभिव्यंजना का विशेष महत्व है। इसी प्रकार प्राचीन यूनान में कविता पाठ करने वालों की भी एक परम्परा रही थी। विशिष्ट सामाजिक - धार्मिक समारोहों, राज दरबारों तथा जन - सभाओं में महान काव्यों का सस्वर पाठ किया जाता था और कविता पाठ करने वालों की भाषा, शैली तथा स्वर लहरी में जन समुदाय बड़ा प्रभावित होता था। इसी कारण प्लेटो अरस्तु आदि ने कविता की इस प्रभाव क्षमता को ध्यान में रखकर, उस पर अपने विचार व्यक्त किये।

इस प्रकार लगभग ई.पू. 500 से प्रारम्भ होकर आधुनिक काल तक के लगभग 2500 वर्षों में पाश्चात्य साहित्य चिंतन का विकास ग्रीक, लैटिन, इंग्लैंड तथा अन्य पश्चिमी देशों में हुआ। पाश्चात्य समीक्षा के विकास का अध्ययन इन्हीं बिन्दुओं के आधार पर करना सुविधाजनक रहेगा।

1.3. ग्रीक आलोचक:

प्राचीन ग्रीक साहित्य चिन्तक काव्य सर्जना को दैवी - प्रेरणा सर्वभूत मानते थे। प्रख्यात महाकवि होमर ने अपने ग्रंथ इलियड तथा ओडेसी में आनंद के आश्चर्य तत्व को प्रकट कर उन्हें अधिक आकर्षक व प्रभावशाली बना दिया। इसी तरह चौथी शताब्दी के अरिष्टोफेनीज में साहित्य और समाज में आडंबर, कृत्रिमता तथा वितंडवाद का विरोध किया। उन्होंने सरल व सहज भाषा, भाव और छंदों का प्रयोग क्रिया था एरिष्टोफेनीज सफल कवि व नाटककार थे।

प्रारम्भिक यूनानी समीक्षकों में पिण्डर और गार्जियस के नाम उल्लेखनीय है। पिडारी ने काव्य में प्रेरणा और कला के सापेक्षिक महत्व पर प्रकाश डाला तो गार्जियस ने अपने कृतियों में काव्य सम्बन्धी विचार को व्यक्त किया। वे कहते हैं - 'शब्द सशक्त शासक है, वे भय को रोक सकते हैं, दुःख दूर कर सकते हैं, आनन्द की सृष्टि कर सकते हैं और हम में विश्वास की वृद्धि कर सकते हैं।'

'Words are mighty rulers, able to stop fear, remove sorrow, produce joy and increase Confidence'.

कविता के सम्बन्ध में गार्जियस कहते है – 'कविता छन्दात्मक भाषा है। वह श्रोताओं में भय, अश्रुपूर्ण करुणा और सहानुभूति उत्पन्न कर सकती है'।

इसी काल के समीक्षक सीमोनिडीज का कहना है कि – 'काव्य शाब्दिक चित्र है, और चित्र मौन कविता है।'

इस प्रकार ग्रीक विचारकों ने काव्य सर्जना प्रभाव व प्रयोजन आदि बातों पर विचार किया था परंतु वस्तुतः ग्रीक समीक्षा का प्रादुर्भाव नाटकों को लेकर ही हुआ। भारत की तरह ही प्राचीन ग्रीस में भी दृश्य काव्य नाटक तक व्यापक रूप से खले जाते थे। इन नाटकों का प्रभाव जनता पर बड़ा गहरा पड़ता था। इसी कारण प्लेटो, अरस्तु, लोंजाइनस और होरेस आदि ने नाटक को केन्द्र में रखकर अपने विचार व्यक्त किये। प्राचीन ग्रीस छोटे-छोटे नगर राज्यों से निर्मित था। ये राज्य हमेशा आपस में लड़ते रहते थे। इन समस्त ग्रीस राज्यों में मध्य भाग में था आत्तिका - जिसकी राजधानी एथेन्स - यूनान की समस्त बौद्धिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक व कलात्मक उपलब्धियों की केन्द्र थी। प्राचीन ग्रीस के एथेन्स - स्पार्ट - दो विरोधी विचारधाराओं के जन्मदाता राज्य थे। एथेन्स में लोकतंत्र का विकास हुआ - स्पार्ट में अधिनायक तंत्र का। इन दोनों राज्यों में संघर्ष तथा वैचारिक आदान-प्रदान से ग्रीक चिंतन का विकास हुआ।

पाश्चात्य आलोचकों में मुख्य थे प्लेटो, अरस्तु, लोंजाइनस आदि। प्लेटो सुकरात के शिष्य थे। प्लेटो मेधावी थे। मूलतः दार्शनिक थे। वे ग्रीक, साहित्य शास्त्र के प्रथम उन्नायक के रूप में प्रसिद्ध है। प्लेटों में आदर्श राज्य की परिकल्पना की तथा साहित्य की आदर्श के हित में बाधक मानकर कवियों के राज्य बहिष्कार की बात की। प्लेटो उपयोगितावादी और नैतिकतावादी विचारक थे और इसी दृष्टि से उन्होंने काव्य पर विचार किया। प्लेटो के शिष्य, अरस्तु अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न, मौलिक विचारक और अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे। इनका ग्रंथ 'परिपोएम्क्सि' या 'आन पोएटिक्स' पाश्चात्य समीक्षा- शास्त्र का प्रथम व्यवस्थित ग्रंथ माना जाता है। अपने पुस्तक में अरस्तु ने प्लेटो के आरोपों का उत्तर के साथ-साथ काव्य के महत्व को भी प्रतिपादित किया। अरस्तु ने अपने विरेचन सिद्धांत के माध्यम से काव्य को अपूर्व आदर प्रदान किया। इतिहास में पहली बार अरस्तु ने महाकाव्य, गीत काव्य, नाटक, दुखान्तक , रौद्रगीत आदि पर विस्तार से विचार किया।

ग्रीक साहित्य चिन्तन में अरस्तु के पश्चात लोंजाइनस का स्थान महत्वपूर्ण है। उसने अपने छोटे से ग्रंथ 'पेरिहुप्सुस' या 'आन सब्लाश्म' के माध्यम से 'काव्य में उदात्त तत्व' पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किये। इनकी मान्यता थी कि - वाणी की महत्ता के लिए विचारों की महत्ता आवश्यक है।

इस प्रकार साहित्य को प्लेटो ने उपयोगिता से जोड़ा। अरस्तु ने आनन्द से तो लोंजाइनस से उसे एक नवीन आयाम 'उदात्तीकरण' प्रदान किया।

प्राचीन ग्रीस नगर छोटे - छोटे राज्यों से निर्मित हुआ था। वहाँ के नेता समय-समय पर अपनी बातों से जन समूह को आकर्षित करने का प्रयत्न भी करते थे। अतः प्राचीन ग्रीस में साहित्य के अतिरिक्त 'वक्तत्व शक्ति' के विकास से सम्बन्धित बातें जैसे भाषा, भाव, अलंकार, विचार, प्रवर्तन, तार्किकता आदि पर भी विचार किया गया। ग्रीक आचार्यों ने तीव्र अन्तर्दृष्टि, व्यापक तर्क, विश्लेषण व वर्गीकरण, वस्तुनिष्ठ आकलन तथा काव्य के स्वरूप उसके प्रकार और रूप तथा प्रयोजन सम्बन्धी विचार साहित्य जगत को प्रदान किये। साहित्यक कृति के विषद विश्लेषण एवं सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित अनु गमनात्मक पद्धति (Inductive method) का उपयोग भी सर्वप्रथम प्राचीन ग्रीस में ही हुआ।

1.4 रोमी समीक्षा :

पाश्चात्य समीक्षा का उद्भव और प्रथम विकास यूनान में हुआ, यूनान के पाश्चात्य काव्य शास्त्र का विकास रोम में हुआ। ग्रीक एक बौद्धिक क्षेत्र के रूप में उभर रहा था रोम एक अधि नायकवादी अनुशासनात्मक सैनिक शक्ति के रूप में उभरा। रोम से आक्रमण होने के पश्चात ग्रीक के शिक्षा केंद्र एथेन्स का महत्व भी क्रमशः समाप्त हो गया।

परिमाणतः ग्रीस के मौलिक चिंतन, बौद्धिक प्रतिभा आदि के अपान प्रदान की परम्परा भी समाप्त हो गई। ग्रीक की प्रतिभा नष्ट होने लगी तो रोम बासी ग्रीक ज्ञान से अभिभूत हो उठे। एथेन्स, रोम व एले वजेडीया में सम्पर्क स्थापित होने के पश्चात काव्य शास्त्र, व्याकरण तथा ज्ञान के विविध क्षेत्रों में विचार विमर्श पुन: प्रारम्भ हुआ।

रोमी साहित्यकारों ने नियमों व परम्पराओं पर अधिक ध्यान केंन्द्रित कर, सहित्य के अंग विन्यास तथा रीति पर अधिक ध्यान दिया। रोमी साहित्यकारों में प्रमुख है सिसेरो, होरेस क्विन्टीलियन आदि। सिसेरो मूलतः राजनीतिज्ञ थे पर साहित्य, दर्शन व मनोविज्ञान का भी वह अच्छा ज्ञाता था। उन्होंने भाषण कला के विकास पर अधिक ध्यान दिया साथ ही भाषा, शैली, अलंकार आदि पर भी अपने विचार व्यक्त किये। होरेस का जन्म एसे काल में हुआ जब रोमन साम्राज्य सभ्यता, शिक्षा, प्रभुता शक्ति, राज्य - विस्तार सांस्कृतिक उत्थान की चरम सीमा पर था। वह अपने पुस्तक 'आर्स पोएतिमा' में काव्य, नाटक, गीत, भाषा, शैली आदि पर मौलिक, ढंग से विचार व्यक्त किये है। काव्य शास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कृति है। ग्रीक व रोमन भाषाओं के विद्वान, अलंकार शास्त्र के ज्ञाता क्विन्टीलियन ग्रीक व रोमन दोनों भाषाओं के शास्त्रीय साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन कर अपनी मान्यताएँ सुनिश्चित की। इन्होंने

अपनी महत्व कृतियाँ 'वकृत्व कला का ह्रास' और 'वक्ता की शिक्षा' आदि में कला, कलाकार और कृति के साथ-साथ भाषा - शैली, अलंकार आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला । रोमी समीक्षकों में अभिव्यंजना सौष्ठव तो था पर ग्रीक, समीक्षकों की मौलिकता, अंतर्दृष्टि जिज्ञासा का अभाव था ।

1.5 अंधकार युग था पूर्व मध्यकाल (5 वीं से 15 वीं सदी)

5 वीं शताब्दी तक सुकरात, प्लेटो व अरस्तु से लेकर रोम की सिसिरो, होरेस, क्विन्टी लियन तक, योरोप और अन्य प्रान्तों में साहित्य चिंतन की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रही ।

रोमन साम्राज्य के पतन तथा ईसाई धर्म के उदय के साथ-साथ साहित्य जगत में अन्धकार युग प्रारंभ हुआ । यूरोप केथोलिक धर्म का प्रभाव, उसके कठोर अनुशासन ने प्रतिभा का द्वार बन्द कर दिया । उस समय का सोच से यह कहा गया कि 'कलाएँ' इस जगत के प्रति मोह उत्पन्न कर पारलौकिक जीवन के चिंतन में बाधा पहुँचाती है अतः कलाओं का जीवन में कोई स्थान नहीं रहा ।उन्हें जीवन से बहिष्कार किया गया ।

इस समय 'लौकिक चिंतन' से ज्यादा 'परलोक चिंतन' को महत्व दिया गया । धर्माचार्यों ने जीवन को मधुर व सरस बनाने वाले नाटकों- प्रहसनों, गीतों, संगीतात्मक -कृतियों आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिये । साहित्य का पठन-पाठन पर निषिद्ध घोषित कर दिया गया । शिक्षा व कला के महान केन्द्रों व विद्यालयों को पथ भ्रष्ट और विवेक हीन बतलाकर, बन्द कर दिया गया । इन सब का प्रभाव साहित्य सर्जन और समीक्षा पर पड़ा ।

1.6. अंग्रेजी का काव्यशास्त्र था पुनर्जागरण काल (15 वीं 16 वीं शताब्दी)

अंग्रेजी साहित्य का पुनर्जागरण काल सन् 1406 से 1660 तक माना जाता है । 15 वीं शताब्दी में इटली में जिस मानववाद का उदय हुआ, उसे अपनाकर अंग्रेजी काव्यशास्त्रियों ने अपने सिद्धांतों की रचना की । इस समय में आए 'व्यक्ति स्वतंत्रता आन्दोलन' के परिणाम स्वरूप धर्म के नाम पर लादे गये बंधन शिथिल होते गये । रोमन कैथोलिक धर्म पर प्रोटेस्टेंट धर्म भावना की विजय हुई । प्रोटेस्टेंट लोगों की धर्म भावना पर्याप्त उदार, व्यापक प्रगतिशील थी । इस पुनर्जागरण काल में वस्तु और शैली की पर्याप्त विवेचना होने के साथ ही अलंकार-शास्त्र की भी प्रगति हुई ।

सन् 1570 के बाद अंग्रेजी काव्यशास्त्र में नया मोड़ आया । इस समय सुधारवादी लोगों ने साहित्य पर अनैतिकता का आरोप लगाया, पर विलिस ने इस आरोप का खण्डन करके साहित्य की रसा करते हुए काव्य को उत्कृष्ट, शिव एवं आनन्द देने वाला माना । सुधार वादियों के आरोपों

और काव्य-प्रेमियों के खंडन की परम्परा में फिलिप सिडनी की पुस्तक अपालाजी फॉर पोयट्री' उल्लेखनीय है। इसी प्रसंग में विवेक और मनोविज्ञान पर आधारित समीक्षक जार्ज परेन्हम का भी उल्लेख किया जाता है। जिन्होंने कल्पना की उत्कृष्टता स्वीकार करते हुए काव्य का उद्देश्य शिक्षा तथा आनन्द स्वीकार किया। सर फिलिप सिडनी संभ्रांत कुल के उच्च राज्याधिकारी, योद्धा व साहित्यकार थे। इंग्लैंड के साहित्य जगत में पुनर्जागरण का सूत्रपात सिडनी ने ही किया। इस काल के अन्य महत्वपूर्ण समीक्षकों में नेन जानसेन एक था। आप विचारवान साहित्य शास्त्रियों में अग्रणी जिन्होंने काव्य के अंतरंग और बहिरंग के सामंजस्य पर बल दिया । उन्होंने साहित्य को समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इनकी पुस्तक 'डिस्कवरी' इस काल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना मानी जाती है। इस पर अरस्तु और होरेस का स्पष्ट प्रभाव है। काव्य को पूर्णतया मुक्त माननेवालों में फ्रेंसिस बेकन का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है जिन्होंने काव्य को जीवन से पलायन घोषित किया।

1.7.नवशास्त्र वादी युग या क्लासिकवाद:

नवशास्त्रवाद का आरंभ 17 वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था। उस समय फ्रेंच साहित्य की स्वच्छन्दता व उच्छृंखलता के फल स्वरूप साहित्य सृजन में व्यवस्था व नियमबद्धता की खोज आरंभ हुई। इस युग के काव्यशास्त्री बोयली ने अपनी पुस्तक 'आर्ट पोयटिक' में काव्य के उद्देश्य, शैली के नियम निर्धारित करते हुए काव्य का प्रधान उद्देश्य शिक्षा और गौण आनंद स्वीकार किया। अतः इस प्रक्रिया में प्राचीन शास्त्रीय नियमों को पुनः स्वीकार करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया था। इसी के कारण इसे नव शास्त्रवाद (Neo - classic) कहा गया। अंग्रेजी नवशास्त्रवादियों में बेन जानसन्, ड्राइडन, एडिसन, पोप, सेम्यूअल जान् सन् आदि प्रसिद्ध है।

18 वीं शताब्दी के आरंभ में पोप और सैमुअल जानसन ने अन्धानुकरण को स्वीकार करके प्राचीन समीक्षा सिद्धांतों पर नवीन प्रकाश डाला और सार्वभौम मानवीय प्रकृति को महत्व प्रदान किया। ये बहुमुख प्रतिभा सम्पन्न और अद्वितीय समीक्षक थे। इन्होंने काव्य में व्यवस्था, समग्रता व नैतिकता को प्रमुख स्थान दिया। उसने सौंदर्य, सामाजिक प्रभाव व सम्प्रेषणीयता में ही कलाकृति की सार्थकता को देखा। इसके विरुद्ध एडिसन ने कल्पना को अधिक महत्व दिया। इन्होंने नाटक व काव्य पर भी अपने विचार व्यक्त किये। ये क्लासिकवाद अथवा प्राचीन कलावाद शैली में प्रसाद गुण का होना आवश्यक मानते थे। ड्राइडन उच्चकोटि आलोचक, कवि, नाटककार और व्यंग्य लेखक थे। इन्हें अंग्रेजी की विवरणात्मक आलोचना के जन्मदाता माना जाता है। इन्होंने तुलनात्मक व निर्णयात्मक आलोचनाएँ लिखकर व्यावहारिक समीक्षा का सूत्रपात किया। इनकी आलोचनाएँ 'एसे आन ड्रामेटिक पोएसी' में व्यक्त किए थे।

इसी काल में जर्मन कवि , नाटककार व आलोचक 'लेसिंग' ने अपनी कृति 'लोऊकून' प्रकाशित की जो साहित्यालोचन के इतिहास में मील का पत्थर है। उसने सौंदर्य, सामाजिक प्रभाव व सम्प्रेषणीयता में ही कलाकृति की सार्थकता को देखा।

नवशास्त्रवादी युग वस्तुतः प्राचीन व नवीन विचारधाराओं के संघर्ष का युग था। सारे यूरोप में स्वतंत्रता की क्रान्ति आरंभ हुई और प्राचीन रूढ़ियों, धार्मिक बन्धनों को तथा साहित्य व कला सर्जना पर लगे बन्धनों को तोड़ने का कार्य आरंभ हुआ। इसका फलस्वरूप फ्रांस की राज्य क्रांति के रूप में प्रकट हुआ था। इस क्रांति का मूलाधार स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व थे और इसमें व्यक्ति - स्वातंत्र्य की उदघोषणा की गई।

1.8. स्वछान्दातावादी विचार धारा (19 वीं सदी):

क्लासिकवाद की सामाजिक राजनैतिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव साहित्य में स्वच्छन्दता वादी आन्दोलन के रूप में हुआ। जहाँ क्लासिकवाद अथवा प्राचीन कलावादी शैली में प्रसाद गुण का होना आवश्यक मानते थे। इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी रीति बद्ध शैली का विरोध करते थे। 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वच्छन्दतावादियों की विजय हुई और अंग्रेजी समीक्षा में स्वच्छन्दतावाद की स्थापना हुई। ये लोग काव्य का लक्ष्य आनंद मानते थे। कल्पना की काव्य में प्रतिष्ठा के कारण सौन्दर्य प्रेम और सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा का महत्व बढ़ा। सौंदर्य की जिज्ञासा के कारण ही प्रकृति के अज्ञात रहस्य छवि का आभास देती प्रतीत हुई तथा बाह्य जगत भ्रम जान पड़ने लगा। इस आधार पर काव्य को व्यावहारिक न मानकर स्वतः पूर्ण और स्वतंत्र घोषित किया गया। काव्य का प्रयोजन सौन्दर्य की सृष्टि स्वीकार करके व्यावहारिक जगत से उसका कोई सम्बन्ध न होना बताया। इसी भावना ने 'कला - कला के लिए' के सिद्धांत को जन्म दिया। 18 वीं सदी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड में ललियम ब्लेक द्वारा जो रोमांटिक आंदोलन का आरंभ हुआ इसका पूर्ण विकास वर्डस्वर्थ, कॉलरिज, शैली, बायरन, विलियम हैजलिट आदि में देखा जा सकता है।

अंग्रेजी का समर्थ कवि व आलोचक वड्सवर्थ अपनी कृति 'लिरिकल बेलाईस' की भूमिका में स्वच्छन्दतावादी मान्यताओं की उद्घोषणा की। वड्सवर्थ कविता के विषय तथा भाषा को सामान्य जन के बीच से ग्रहण किया। उन्होंने कृत्रिम कलात्मकता और नियमबद्धता आदि का विरोध किया था। कॉलरिज महान कवि और मौलिक साहित्य चिंतक थे। उनका प्रमुख पुस्तक 'बायोग्राफिया लिटरारिया' था।

कालरिज का कल्पना सिद्धांत अपनी मौलिकता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के अन्य कवियों में थामस लॉव पिकाक भी एक है जिन्होंने 'द फोर एसेज आन पोएट्री' लिखकर उसमें

यह घोषणा की कि काव्य रचना मूर्खता पूर्ण कार्य है। उन्होंने कवियों से आग्रह किया कि वे काव्य सर्जना जैसे फालतू कार्य में अपना अमूल्य समय लगाने के बदले वैज्ञानिक प्रगति में लगाएं। इसके समाधान में सन् 1821 ई में 'महाकवि शैली' ने 'डिफेन्स ऑफ पोएट्री' लिखकर उसके मत का खंडन करते हुए , काव्य की महत्ता की स्थापना की।

1.9. विक्टोरिन युग : (19 वीं शताब्दी)

यह युग अंग्रेजी साम्रज्य के प्रभुता, शक्ति, व वैभव के विस्तार व उत्थान की शताब्दी थी। इस युग में यूरोप में विज्ञान का विकास हुआ। इस युग की रचनाओं में तत्कालीन मानसिक द्वन्द अभिव्यक्ति का इग्लैंड के गौरव की अभिव्यक्ति का उल्लेख दिखाई पड़ता है। माथ्यु अर्नाल्ड (1822 - 1888) अंग्रेजी के प्रमुख कवि और समीक्षक थे। उनके प्रमुख ग्रंथ 'एसेस आन क्रिटिसिज्म', 'कल्चर एण्ड एनार्की','आन ट्रांसलेटिंग होमर' आदि थे। उन्होंने सहित्य को जीवन की आलोचना माना साथ लोक - कल्याण और लोक संस्कृति का विकास साहित्य के उद्देश्य माना।

'जान रिस्किन' कला में नैतिकता का महत्वपूर्ण माना। आपकी प्रमुख रचनाएँ 'माडर्न पेहन्टर्स', 'सेवन लेम्पस ऑफ आर्किटेक्चर' स्टोन्स ऑफ वेनिस आदि। 'वाल्टर पेटर' महान सौन्दर्यवादी थे। 'लियो टालस्टाय' महान रुसी उपन्यासकार, कहानीकार व चिंतक थे। उन्होंने सामाजिक यथार्थवाद के सिद्धांत को जन्म दिया। आपका प्रमुख पुस्तक 'कला क्या है ?' इस में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये। इस युग के अन्य समीक्षकों में प्रमुख शापेन हावर, नीत्शे, एड्गर एलन, व्हिसलस अक्सर वाइल्ड आदि ने 'कला कला के लिए' सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

20 वीं सदी: साहित्य सर्जना व साहित्य चिंतन दोनों दृष्टियों से बीसवीं सदी अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। इस युग के प्रमुख समीक्षकों में क्रोचे, आई. ए. रिचड्स, टी. एस. इलियट आदि उल्लेखनीय है। क्रोचे मूलतः दार्शनिक थे। कला व सौन्दर्य शास्त्र के गहन अध्येता थे। उन्होंने कला सर्जना के क्षेत्र से 'अभिव्यंजनावाद' सिद्धांत का प्रतिपादन किया। आई. ए. रिचड्स मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान कर काव्य को मूल्य व संप्रेषण के सिद्धांत से जोड़ दिया। इन्होंने साहित्य में पाठक को केंद्र बिन्दु माना थ। आपकी प्रमुख रचनाएँ है 'द फाउडेन्स, ऑफ इस्थेटिक्स', द मीनिंग ऑफ मीनिंग, सायंस एण्ड पोयट्री, प्रेक्टिकल क्रिटीसिज्म' आदि। अमेरिका की न्यू क्रिटिसिज्म का प्रारम्भ रिचड्स से माना जाता है।

टी. एस. इलियट इस युग के प्रमुख समीक्षक थे। इन्होंने "द सेक्रेड वुड, द यूज ऑफ पोयट्री एणड द यूज ऑफ क्रिटि सिजम','पोयट्री एण्ड ड्रामा','आन पोयट्री एण्ड पोयट्स' आदि

प्रमुख समीक्षा कृतियों की सर्जना की । परम्परा और व्यक्तिक प्रतिभा, मूर्त विधान, संवेदना का आश्चर्य आदि इनके प्रसिद्ध सिद्धांत हैं।

1.10. मार्क्सवादी समीक्षा :

1. बीस वीं शताब्दी का आरम्भ कुण्ठा, निराशा, विद्रोह और अनास्था के साथ आरंभ हुआ । ये सब अंग्रेजी समाज को अव्यवस्थित कर दिया । इरविन बेबिद और उनके सहयोगी समीक्षकों ने नीति, आचार और व्यवहार का समर्थन किया । इन्होंने स्वच्छन्दतावादी काव्य के बिम्बवाद का भी विरोध किया । क्रोचे ने भौतिकवाद का विरोध किया । कोच ने भौतिकवाद का विरोध किया । इनके अनुसार सहजानुभूति की क्रिया ही कलात्मक सृजन था । क्रोचे का मत प्रतीक वाद के समीप है जो सर्जना और संप्रेषण को भिन्न मानता है । क्रोचे की विचारधारा एक प्रकार से स्वच्छन्दतावाद का उग्र रूप थी । फ्रायड और माक्स दो प्रबल विचारकों ने भी इस शताब्दी को बहुत प्रभावित किया है।

2. मार्क्सवादी के अंतर्गत साहित्य को समाजोन्मुख दृष्टि से देखा गया । वर्ग- संघर्ष, सामाजिक यथार्थवाद, द्वद्वात्मक भौतिकवाद आदि को व्यक्त करने वाले साहित्य को महत्व प्रदान किया गया मार्क्स ने साहित्य का मुख्य प्रयोजन समाज-कल्याण स्वीकार किया।

3. फ्रायड के अनुसार कामवृत्ति जीवन की मूलवृत्ति है और साहित्य काम कुंठाओं की अभिव्यक्त है । इन्होंने काम वासना को समग्र कला सर्जना के मूल में रखकर, मानव मन की गहराइयों का विश्लेषण किया । इससे मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति का जन्म हुआ ।

सारांश:

पाश्चात्य काव्य समीक्षा का उत्थान ई. पू. 427 में एथेन्स के प्लेटो से आरंभ होकर आधुनिक काल के अमेरिका में विकसित हुआ । अमेरिका में विकसित काव्य समीक्षा के अधुनातन दृष्टिकोण के अनुसार काव्य रचना अथवा कलाकृति का मूल्यांकन बहिरंग न होकर सर्वथा स्वतंत्र और निरपेक्ष होना चाहिए । इसकी दृष्टि में काव्य रचना और कलाकृति ही लक्ष्य है । यह समीक्षा पद्धति उन तत्वों को खोजना चाहती है जिनके कारण कोई रचना कविता बनती है अथवा कोई कृति कला कहलाती हैं । आज कवि के व्यक्तित्व की अपेक्षा कृति अथवा रचना की प्रकृति और प्रवृत्ति के मूल्यांकन को प्रमुखता दी जाती है । इस इकाई में हम पाश्चात्य काव्य शास्त्र के उद्भव और विकास के क्रम में ई.पू. 500 से लेकर आज तक यानी 2500 वर्षों तक के आलोचना पद्धति के विकास को जान चुके हैं । प्लेटो, अरस्तु से लेकर रोमी समीक्षा और 15वीं सदी के अंधकार युग, 16वीं सदी के पुनर्जागरण काल 19वीं सदी के स्वच्छदतावादी विचारधारा,

विक्टोरियन युग आदि के बारे में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। आधुनिक काल के देन मार्क्सवादी समीक्षा भी पाश्चात्य काव्य समीक्षा के अंतर्गत ही आते हैं। इन पाश्चात्य समीक्षकों और उनके आलोचना पद्धतियों के बारे में, विभिन्न प्रकार के वादों के बारे में आगे की इकाइयों में पढ़ेंगे।

प्रश्न :

1. पाश्चात्य समीक्षा का क्रमिक विकास पर चर्चा कीजिए।
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का उद्भव और विकास की सोपानों पर अपना विचार व्यक्त कीजिए।

संदर्भ ग्रंथ :

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र -डॉ. त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव
2. साहित्यिक निबंध -गणपति चन्द्र गुप्ता, डी. लिट्ट

डॉ. एम. मंजुला

2. प्लेटो - कला सम्बन्धी दृष्टिकोण - काव्य प्रेरणा का सिद्धांत

2.0. उद्देश्य :

इस पाठ में हम पाश्चात्य काव्य समीक्षक यूनान के एथेन्स के निवासी प्लेटो के बारे में पढ़ेंगे। प्लेटो के काव्य सम्बन्धी मान्यताएँ, तत्कालीन परिस्थितियाँ उनके विरुद्ध प्लेटो की आदर्श पद्धतियाँ आदि के बारे में चर्चा करेंगे । काव्य प्रेरणा का सिद्धांत, अनुकृति, काव्य पर प्लेटो का आरोप आदि के बारे में विस्तृत अध्ययन करेंगे।

इकाई – II

2.0. उद्देश्य

2.1. प्रस्तावना

2.2. प्लेटो के दार्शनिक चिंतन

2.3. प्लेटो राजनीतिक विचार - तत्कालीन परिस्थितियाँ

2.4. साहित्य संबधी मान्यताएँ

2.4.1. काव्य के भेद

2.4.2. शौली के भेद

2.4.3. काय का हेतु

2.5. अनुकरण सिद्धांत

2.6. काव्य का प्रयोजन

2.7. काव्य की अनुपयोगिता

2.8. श्रेष्ठ काब्य के गुण

2.9. मूल्यांकन या महत्व

2.10. सारांश

बोध प्रश्न

सहायक ग्रंथ

2.1. प्रस्तावना :

प्लेटो का जन्म यूनान की राजधानी एथेन्स के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। इसका जीवन काल ई पू. 427 से ई पू. 347 तक माना जाता है। पाश्चात्य आलोचना का समारम्भ प्लेटो से माना जाता है। इस सन्दर्भ में प्लेटो का स्थान जितना विशिष्ट है, उतना हि प्रभावशाली भी है। प्लेटो का परिवार राजनीति से सम्बद्ध रहा था। लेकिन प्लेटो निरंतर अध्यपन शैल होने के कारण राजनीति में भाग न लिया था। प्लेटो मूलत: आदर्शवादी दार्शनिक थे। उस युग के प्रखर मेधावी - खतंन्त विचारक सुकरात की दार्शनिक मान्यताओं का प्लेटो के जीवन व चिन्तन पर गहरा प्रभाव पडा था। वे एक आदर्श समाज व आदर्श राज्य की स्थापना के आकांक्षी थे। उनकी समस्त विचारों को उनकी पुस्तक 'रिपब्लिक' में देखी जा सकती है वस्तुत: प्लेटो का प्रकृत- क्षेत्र दर्शन था किन्तु हृदय से वे कवि थे। वे संस्कार व स्वभाव से कवि थे पर शिक्षा व परिस्थितियाँ से दार्शनिक थे व सुकरात के अपूर्व मेधावी - असाधारण शिष्य थे। सुकरात का दृष्टिकोण बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक था। भौतिक जीवन में जो उपयोगी हो और नैतिक जीवन में जो सात्विक हो, वही उत्तम है। सुकरात के विचार में सुन्दरता व उपयोगिता – ये दोनों शब्द समानार्थक थे। प्लेटो पर अपने गुरू के इन विचारों का ग्रहरा प्रभाव पड़ा। इन्ही उपयोगितावादी आदर्शोन्मुखी विचारों के सन्दर्भ में उसने "आदर्श गणराज्य" की परिकल्पना की तथा इसी परिप्रेक्ष्य में साहित्य एवं कला के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ बनाई।

प्लेटो के साहित्यक विचार उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक सिद्धांतों से प्रभावित है। अतः उनकी साहित्य संबंधी धाराओं के विवेचन करने के लिए उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारों को और तत्कालीन परिस्थितियों को समझलेना आवश्यक है।

2.2. प्लेटो के दार्शनिक चिंतन:

दर्शन का चरम लक्ष्य सत्य या अन्तिम सत्य की खोज करना होता है। अन्तिम सत्य सम्बन्ध में मुख्यतः दो विचारों को देख सकते हैं। एक वो है जो किसी सूक्ष्म सत्ता या परोक्ष शक्ति को यानि परमात्मा को अंतिम सत्य या शाश्वत तत्व मानते हैं। दूसरे वे है जो इस स्थूल एव भौतिक जगत को ही सृष्टि का आधारभूत तत्व एवं सत्य मानते हैं। इन्हें क्रमश: आदर्शवादी एवं यथार्थवादी कहा जाता है। प्लेटो आदर्शवादी है। वे मानते थे कि इस भौतिक जगत के पीछे किसी सूक्ष्म शाश्वत एवं अलौकिक जगत का आधार है।

इस सृष्टि का निर्माण किसी अलौकिक शक्ति या परमात्मा के विचारों के अनुसार हुआ - अत: विचार ही मूल तत्व है जब कि वस्तु मिथ्या है। प्लेटो के अनुसार इस संसार के सारी वस्तु- विचार रूप अलौकिक जगत में विद्यमान है। सांसारिक पदार्थ अपूर्ण, परिवर्तन शील एवं नाशवान हैं, अत; वे मिध्या है जब कि अलौकिक जगत में विद्यमान उनका विचार या प्रत्यय अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत होने के कारण - सत्य इस प्रकार वस्तु की अपेक्षा विचार या तत्व को ही प्रमुखता देने के कारण ही प्लेटो के विचारों को तत्व वाद या आदर्शवाद कहा जाता है। आगे चलकर यही 'आदर्शवाद'- आध्यात्मिक विचारों, नैतिक सिद्धांतों एवं उच्च कोटि के मानव मूल्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा। प्लेटो भारतीय अव्दौतवादियों की भाँति जगत को

मिथ्या और विचाररूपी ब्रह्म को सत्य मानता था और उसकी उस धारणा का प्रभाव उसके राजनीतिक एवं साहित्यिक विचारों पर भी पड़ा।

2.3 प्लेटो के राजनीतिक विचार - तत्कालीन परिस्थितियाँ :

प्राचीन यूनान में कई छोटे-छोटे राज्य थे। इनमें से दो राज्य एथेन्स और स्पर्टा। ये दोनों विशेधी विचार धाराओं और जीवन मार्गों के अनुयाची थे। एथेन्स ने जहाँ बौद्धिक विकास व कलात्मक उत्कर्ष को महत्व दिया, वही स्पर्टा ने शारीरिक विकास व सैन्य शक्ति के निर्माण को महत्वपूर्ण माना। इस प्रकार एथेन्स में लोकतंत्र का विकास हुआ तो स्पर्टा में अधिनायक तंत्र का। एथेन्स में विचार, कलाकार एवं साहित्यकार उत्पन्न हुआ तो स्पर्टा में परिश्रमी, पराक्रमी व योद्धा। ई. पू. 431 में स्पर्टा में एथेन्स पर आक्रमण किया। सत्ताईस वर्ष युद्ध के बाद ई.पू. 404 में एथेन्स की पराजय हुई। स्पर्टा ने एथेन्स को काफी अपमानित करते हुए उसे गुलामी बनादिया। एसी परिस्थितियों में ई. पू. 427 प्लेटो का जन्म हुआ। उसका शैशव, बाल्य, यौवन का आरंभिक जीवन युद्ध की काली छाया में गुलामी की परिस्थितियों में बीता। इसी कारण 'रिपब्लिक' में प्लेटो कहते है – "गुलामी मृत्यु से भी भयावह है"। इन परिस्थितियों से अतिरिक्त दूसरी घटना जिसने प्लेटो को विचलित किया है- अपने गुरु सुकरात को मृत्यु दण्ड दिया जाना। सुकरात रूढ़िवाद, पाखण्ड व अन्धविश्वासों का स्थान विरोध करके बौद्धिक स्वातंत्र्य, तार्किकता और स्वतंत्र चिन्तन का विकास किया। इसलिए उन्हें मृत्युन्दड दिया गया।

प्लेटो का समस्त चिन्तन इन दो महत्वपूर्ण घटनाओं द्वारा प्रेरित व संचालित थे। इसीलिए वे एक ऐसी शासन प्रणाली का आविष्कार करने के लिए प्रेरित हुए थे जिसमें सत्य को और सत्य को मानने वालों का सर्वोपरि स्थान दिया जाय। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने एक ऐसे 'गणराज्य' की कल्पना की जिसका शासक कोई महान दार्शनिक आचार्य या महात्मा होगा। अपने ग्रन्थ 'दि रिपब्लिक' में प्लेटो ने विस्तार से एक ऐसी योजना - पद्धति का प्रतिपादन किया है जिससे इस प्रकार के शासन का चयन हो सके, उसके विचारानुसार विद्यालयों में ही इस प्रकार के चयन की प्रक्रिया का सूत्रपात हो जाना चाहिए। सात में बीस वर्ष के आयु के छात्रों में जो सर्वोच्छ सिद्ध हो उन्हें सैनिक के रूप में चुनकर विशेष शिक्षा दी जानी चाहिए। और इनमें जो उच्च स्तर के सिद्ध हो उनको शासन वर्ग में लिया जाया। इस शासक वर्ग में भी विशेष शिक्षा देकर उसमें भी उच्च स्तर का सिद्ध हो उसे राजा या प्रमुख शासक चुना जाय। इस प्रकार प्लेटो के स्वप्नों का शासक न केवल दर्शन, विज्ञान एवं शासन-पद्धति में पारंगत होगा, अपितु वह अपने वैयक्तिक एवं चारित्रिक गुणों की दृष्टि से भी सम्पन्न होगा। प्लेटो का लक्ष्य एक ऐसे राज्य की स्थापना करने का या जिसमें सत्य, न्याय धर्म और सदाचार की पूर्ण प्रतिष्ठा हो सके। इसके लिए शासक में आदर्श शासक के गुण होना चाहिए और दूसरी ओर राज्य की सारी व्यवस्था एवं उसका वातावरण भी उसके अनुकूल होना चाहिए। इस व्यवस्था और वातावरण को अनुकूल या प्रतिकूल बनाने में काला और साहित्य क्या योग दे सकते हैं - इसी दृष्टिकोण से प्लेटो ने इन पर विचार किया है। वस्तुतः कला और साहित्य पर स्वतंत्र एवं निरपेक्ष दृष्टि विचार करना उनका लक्ष्य नहीं था, अपितु आदर्श गणराज्य की सहयोगी शक्तियों के रूप में ही इनकी आलोचना की गयी है।

2.4. साहित्य सम्बन्धी मान्यताएँ –

प्लेटो आदर्शवादी समाज सुधारक था, जिसके मन में समाज-कल्याण की भावना निहित थी। उनके अनुसार सत्य वह है अपने समाज और व्यक्ति का नैतिक व आध्यात्मिक विकास हो सके। प्लेटो के अनुसार साहित्य का आधार उपयोगिता है। प्लेटो दार्शनिक होने के कारण सामाजिक उपयोगिता के बारे में सोचते थे। स्वयं कवि हृदय वाले होने के कारण उनकी भाषा शैली में उनका काव्यत्व दिखता है। वे काव्य के प्रशंसक थे। प्लेटो अपने काल से असंतुष्ट थे। उनका विचार था कि उनके समय की रचनाएँ सस्ते मनोरंजन और चरित्र - हीनता को बढ़ावा दे रही हैं, अतः उन्होंने इसका विरोध किया। वे काव्य की असीम शक्ति से परिचित थे और उसके सौन्दर्य से भी प्रभावित किन्तु 'सत्य' और नैतिकता की अवहेलना उन्हें स्वीकार नहीं थी।

2.4.1. काव्य के भेद :

प्लेटो में परंपरागत धारणाओं के अनुसार काव्य को भी कला के अंतर्गत स्थान दिया है। यूनान में कला शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। यूनानी विचारधारा के आधार पर परवर्ती पश्चिमी विचारकों ने भी उपयोगी एवं ललित कलाओं का विशद विवेचन किया है। प्लेटो कलाओं के तीन प्रकार मानते थे- उपयोग की कला, निर्माण की कला और प्रतिरूपण की कला। प्लेटो की मान्यता थी कि काव्य मानवीय संवेदना को उत्तेजित कर हमारी आत्मा को क्षति पहुँचाता है। काव्य आत्मा के असाधु अंश का ही पोषण करता है। काव्य को वे इसलिए भी हेय दृष्टि से देखते थे क्योंकि उनके अनुसार वा अनुकरण का भी अनुकरण होने के कारण सत्य से तीन गुणा दूर है।

प्लेटो ने काव्य को प्रमुख रूप से तीन भागों में विभक्त किया है -1) अनुकरणात्मक - इसके अन्तर्गत उन्होंने नाट्य विधाओं जैसे त्रासदी और कामदी आदि को रखा।

2) कथानात्मक - इसके अन्तर्गत उन विवरणात्मक रचनाओं को रखा गया जिन्हें कवि स्वयं एक वक्ता के रुप में प्रस्तुत करता है।

3) उभय या मिश्र- इसके अन्तर्गत उन रचनाओं को स्थान दिया गया जिनमें उपर्युक्त दोनों भेदों का सम्मिलित प्रयोग होता हो जैसे महाकाव्य आदि।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के दो प्रमुख भेद माने गये हैं -दृश्य एवं श्रव्य। प्लेटो सम्पूर्ण काव्य को अनुकरण मानते थे इसलिए उन्होंने इन भेदों को वर्गीकृत करते समय नाटक को पुन: अनुकरण का है। नाटक अनुकरण पर आधारित होता है, यह तथ्य सर्वमान्य हैं। परन्तु इसी तथ्य को सम्पूर्ण काव्य पर आरोपित करना उचित प्रतीत नहीं होता और इस प्रकार प्लेटो के विचारों में पुनरावृत्ति दोष उत्पन्न हो जाता है। वे काव्य को भी अनुकरण करते हैं और नाटक को भी।

2.4.2. शैली के भेद-

काव्य के ही अनुसार प्लेटो ने शैली के भी तीन भेद माने हैं। वे मानते थे कि गद्य अथवा पद्य किसी भी माध्यम से में भूत वर्तमान अथवा भविष्य का ही प्रस्तुतीकरण होता है। इसके लिए उन्होंने विशुद्ध वर्णनात्मक, नाट्य अथवा उभय शैलियों का निर्देश किया है। नाटकादि में नाट्य शैली, प्रगीतादि में वर्णनात्मक और महाकाव्यादि में मिश्र शैली का प्रयोग होता है। प्लेटो ने शब्दों की लयबद्ध अभिव्यक्ति पर

बहुत जोर दिया है क्योंकि वे यह मानते थे कि लयात्मक अभिव्यक्ति का प्रभाव मनुष्य के मन को सबसे अधिक प्रभावित करता है। प्लेटो के चिन्तन में क्योंकि नैतिक मूल्यों का प्राधान्य था अत: वे उनके आधार पर ही प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन एवं विवेचन करते थे। इसीलिए उन्होंने न केवल काव्य की विषय वस्तु को ही बल्कि शैली को भी चरित्र पर आश्रित बताया। वे मानते थे कि लय और रूप का सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त विवेक लय और समरसता से तथा मानवीय चरित्र में स्थित तर्कबुद्धि और सद्वृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

काव्य और सत्य : प्लेटो द्वारा काव्य के कला-प्रश्न पर अधिक ध्यान दिये जाने का कारण यह है कि वे काव्य की सत्य से तीन गुणा दूर मानते थे। काव्य का विषय - वस्तु को जब वे असत्य ही मान चुके थे तो मूल्यांकन का प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी दार्शनिक मान्यता के अनुसार सत्य केवल परमसत्ता अर्थात ईश्वर हैं और प्रकृति उसका अनुकरण मात्र है और काव्य क्योंकि प्रकृति का ही अनुकरण है अत: वह सत्य से तीन गुणा दूर है। इतना ही नहीं वे काव्य के उद्भव को भी अज्ञान प्रेरित मानते थे। उनके अनुसार कवि ज्ञाता नहीं हो सकता। किन्तु अनुकरण के लिए भी ज्ञान की आवश्यकता होती हैं इस तथ्य को उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

2.4.3. काव्य का हेतु :

काव्य का हेतु प्लेटो ने देवी प्रेरणा को माना है। उनके अनुसार कवि देवी प्रेरणा से प्रेरित हो कर काव्य रचना करता है। आज के मनोवैज्ञानिक युग में इस धारणा को श्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके शिष्य अरस्तु ने भी देवी प्रेरणा के उनके इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया। अरस्तु ने काव्य का हेतु मानव के मन की अनुकरण वृत्ति एवं सामंजस्य को बताया। प्रतिभा के महत्व को स्वीकार करते हुए अरस्तु ने काव्य हेतुओं में अभ्यास एवं निपुणता पर भी बाल दिया। भारतीय आचार्यों ने नैसर्गिक प्रतिभा, लोक व्यवहार एवं शास्त्र ज्ञान द्वारा प्राप्त निपुणता को काव्य का हेतु माना है।

प्लेटो मानते थे कि देवी प्रेरणा से विक्षिप्तावस्था उत्पन्न होती है और वह विक्षिप्तावस्था किसी मानसिक विकृति के कारण नहीं होती। इसी विक्षिप्तावस्था में अज्ञानता की स्थिति में, कवि के माध्यम से देवी शक्ति अथवा ईश्वर काव्य कृति की रचना करता है कवि उस रचना को केवल भाषा प्रदान करता है। प्लेटो के इस सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाये तो उन्होंने अनुकरण होने के कारण काव्य को सत्य से तीन गुणा दूर बताकर उसकी जो निन्दा की है- उसका दायित्व स्वयं कवि का नहीं व वरन् ईश्वर का हो जाता है।

मिथात्व का आरोप-

प्लेटो के अनुसार 'कला' यथार्थ या सत्य से तीन गुणा दूर है अतः समाज के लिए अनुपयोगी है। प्लेटो के अनुसार 'प्रत्यय' (विचार) पूर्ण सत्य है। यह सृष्टि उस प्रत्यय का प्रतिबिम्ब तथा कला उस प्रतिबिम्ब की प्रतिबिम्ब है अर्थात सत्य स त्रिगुणित दूर हैं। उन्होंने अपनी बात पलंग के उदाहरण द्वारा स्पष्ट की। प्रत्यय या विचार के आधार पर बढ़ाई पलंग का निर्माण करता है पुनः कलाकार उस पलंग का चित्र उतारता है। अतः कला नकल की नकल है, छाया की छाया है। अनुकृति प्रधान होने के कारण सारी कलाएँ निकृष्ट व हेय हैं।

2.5. अनुकरण सिद्धांत –

प्लेटो काव्य की कला के अन्तर्गत परिगणित किया है। उन्होंने तीन प्रकार की कलाओं की चर्चा की है – उपयोगात्मक निर्माणात्मक और प्रति रूपाणात्मक। चित्रकला, मूर्तिकला आदि की भाँति ही उन्होंने काव्य को भी प्रतिरूपणात्मक कला के अंतर्गत स्थान दिया है। चित्रकारों एवं कवियों को निम्न कोटि का कलाकार मानते थे। क्योंकि उनकी दृष्टि में कलाकार वास्तव में सत्य के अनुकरण का अनुकरण करता है। प्लेटो के अनुसार कवि अपनी रचनाओं में मानव आत्मा के दुर्बल पक्षों को ही प्रस्तुत करता है। उसकी मानवीय संवेगों पर आधारित कृतियाँ पाठकों या दर्शकों को उत्तेजित कर हानि पहुंचाती हैं। प्लेटो काव्य की अन्य कलाओं के साथ प्रतिरूपणात्मक कला मान लिया गया। उनके अभिप्राय को उन्होंने पलंग के उदाहरण द्वारा समझने का प्रयत्न किया है। उनकी मान्यता है कि पलंग का मूलकर्ता सम्पूर्ण सृष्टि कर्ता होने के नाते ईश्वर होता है और बढई उसका अनुकर्ता होता है अर्थात कलाकार सत्य से तीन गुणा दूर तो ही साथ ही उसे सत्य का ज्ञान भी नहीं है। प्लेटो का अभिप्राय यह है कि कलाकार पलंग को चित्र का बना देता है किन्तु सत्य से अनभिज्ञ होने के कारण वह पलंग नहीं बना सकता। उनके अनुसार जो लोग कवियों को ज्ञाता मानते हैं उनके छल द्वारा वशीभूत होकर ही ऐसा करते है। उनकी कृतियों के पाठक या दर्शक यह भूल जाते हैं कि वे सत्य के आभास मात्र का दर्शन कर रहे हैं और इसीलिए उन्हें सत्य का भ्रम हो जाता है। यह तर्क का ही नहीं, काव्य व नाटक पर भी लागू होता है। इन कृतियों को पढ़ने, सुनने व देखने से अच्छे नागरिकों का निर्माण संभव नहीं है।

- **कलाएँ दुर्बलता व अनाचार की पोषक**

1) प्लेटो के अनुसार कवि न केवल अनुप्रयोगी व महत्वहीन है, प्रत्युत वह समाज में दुर्बलता व अनाचार के पोषण का अपराध भी करता है। समाज में सत्य, न्याय व धर्म की तभी प्रतिष्ठा हो सकती है जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी भावनाओं व वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखें विवेक एवं नीति पूर्ण व्यवहार करें तथा सदाचारी बने।

2) प्लेटो के अनुसार कवि यश, धन, अथवा लोक प्रियता की प्राप्ति हेतु काव्य में ऐसे तत्वों का समावेश करता है। जिनसे पाठकों का मनोरंजन होता है। वह आवेगपूर्ण और उन्माद ग्रस्त स्थितियों को लेकर पाठकों - दर्शकों की वासनाओं को जागृत करता है जिससे चरित्र - हीनता फैलती है।

3) प्लेटो के अनुसार काव्य में अनुदात्त और अवांछनीय तत्वों का समावेश किया जाता है, जो अहित कर है। काव्यों - नाटकों में ऐसी घटनाओं का चित्रण होता है जिसमें सज्जनों को दण्ड व दुःख भोगते व दुर्जनों का सुख भोगते दिखाया जाता है। इससे समाज में अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है।

4) नाटकों में भोग-विलास को खुलकर चित्रण किया जाता है इससे भोग वृत्ति का बढावा मिलता है।

5) काव्य और नाटकों द्वारा श्रोताओं व दर्शकों के मन में भय एवं करुणा उत्पन्न होती, जिसके परिणाम स्वरूप व वीर और साहसी बनने के बदले भीरू और कापुरूप बनते है।

6) दुखांत - नाटकों में कलह, हत्या, विलाप तथा सुखांतों में अभद्रता, अशिष्टता, विद्रूपत्ता आदि के देखने, सुनने से मन में हलके भाव उत्पन्न होते हैं।

7) नाटकों में तर्क व विवेक के बदले भावुकता व कल्पना की समावेश अधिक होता है। भावुकता कमजोरी का एक लक्षण है।

भावुकता के कारण मनुष्य सत्य और यथार्थ को देखने की उसकी समता लुप्त हो जाती है, तथा अपने कर्तव्य को पूरा करने की दृढ़ता उसमें नहीं रहती। अर्थात भावुक, व्यक्ति कर्तव्य युक्त हो जाता है। प्रशासकों व कार्यकर्ताओं के लिए यह स्थिति और भी घातक है।

8) रंग मंच पर हत्या, विलाप, कलह, छेढ-छाढ आदि देखने से सुरुचि समाप्त हो जाती है तथा समाज में कुरुचि को बोल बाला है।

इन्हीं आरोपों के कारण प्लेटो कवियों को अपने आदर्श राज्य से बहिष्कृत करने की बात करते हैं।

2.6. काव्य का प्रयोजन :

काव्य का प्रयोजन प्लेटो ने मात्र मनोरंजन को ही नहीं माना। इसी आधार पर उन्होंने काव्य की आलोचना की है। काव्य के प्रयोजन पर विचार करते समय 'दि रिपब्लिक' में प्लेटो ने कहा कि हमें उन्हीं कलाकारों का मुखापेक्षी होना चाहिए जो अपनी कृति की अच्छाइयों में सौन्दर्य और पूर्णता को प्रस्तुत कर सकें जिससे की हमारे नवयुवक, स्वास्थ्य वर्धक स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों के समान निरन्तर अच्छाई प्रभावित हो सकें। भावोद्रेक के द्वारा मात्र मनोरंजन करने वाला काव्य व्यक्ति की आत्मा को उनके अनुसार क्षति पहुँचाता है। अतः काव्य का प्रयोजन उन्होंने नैतिकता और सौंदर्य से युक्त आदर्श को माना जो कि उनके आदर्श राज्य की कल्पना के अनुकूल हो। उन्होंने आनन्द का सर्वथा निषेध नहीं किया है किन्तु काव्य का प्रमुख प्रयोजन लोक मंगल को ही माना है। आनन्द की प्राप्ति की भी वे आवश्यक एवं स्वाभाविक मानते थे लेकिन यह उनकी दृष्टि में काव्य का गौण प्रयोजन है।

2.7.काव्य की अनुपयोगिता :

प्लेटो के अनुसार एक प्रशासक या चिकित्सक के मुकाबले साहित्यकार की कृति का कोई भी उपयोग नहीं होता। कवि द्वारा वर्णित विषय से न तो विषय की यथा तथ्य - सांगोपांग जानकारी प्राप्त हो सकती है और न उससे ज्ञान में वृद्धि ही होती है। प्लेटो कवि की अपेक्षा उस व्यक्ति को अधिक महत्व देता है जो किसी की चिकित्सा करके उसे रोग मुक्त कर सके, युद्ध,- व्यूह रचना का ज्ञान प्रदान कर सके अथवा शासन-प्रणाली में कोई सुधार कर सकें।

सत्कविः प्लेटो काव्य की शक्ति से पूर्णतः परिचित थे। इसी कारण वे काव्य निर्माण को समाज-सापेक्ष बनाने के पक्षधर थे तथा उसी कृति को श्रेष्ठ मानते थे जो समाज के लिए हितकारी हो। भाव मूलक होने के कारण साहित्य सरस होता है और तर्क मूलक होने के कारण दर्शन नीरस होता है। अतः प्लेटो ऐसे कवियों को समान की दृष्टि से देखत हैं जिनकी रचनाएँ सामाजिक निर्माण में प्रेरणा का कार्य करें। इन्हीं को वे सत्कवि मानते हैं। प्लेटो की मान्यता थी – "हमारे कलाकार ऐसे होने चाहिए जिसमें सौंदर्य और लालित्य की सच्ची प्रकृति देखने की क्षमता हो। तभी हमारे युवक स्वस्थ भूमि में निर्मल दृश्यों तथा मनोहर ध्वनियों के बीच रह सकेंगे और प्रत्येक वस्तु में अच्छाई देख सकेंगे।

2.8. श्रेष्ठ काव्य के गुण :

प्लेटो ने जहाँ काव्य की निन्दा की हैं, वहीं उसने श्रेष्ठ काव्य के गुणों की चर्चा की है।

1) सरलता - सरलता को प्लेटो काव्य का प्रमुख गुण मानता था। उसकी धारणा थी कि जो काव्य सरलता से समझ में न आ सके, वह महत्वहीन है । इसी से वह काव्य में व्यंजना की अपेक्षा अभिधा को अधिक श्रेष्ठ स्वीकार करता है क्योंकि साधारण जन व्यंजना का वास्तविक अर्थ न समझकर अर्थ का अनर्थ कर बैठता है। सरलता से भी वह न्याय के पालन का पक्षधर था।

2) विषय - वह श्रेष्ठ काव्य के विषय को धार्मिक या नैतिक मानता है। उसमें राष्ट्र नायकों, वीरों एवं देवताओं के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन अपेक्षित है। उसने साहित्य के दो भेद किये – सद्साहित्य और असद्साहित्य। जिस साहित्य में 'सद्' देव- स्तुति, उदात्त श्रेष्ठ भावों का वर्णन हो, वह सद्साहित्य है। उसे सद्साहित्य ही स्वीकार है। असद साहित्य वह है जो काल्पनिक, असत्य कथाओं से भरा हो, यदि काल्पनिक साहित्य भी किसी श्रेष्ठ 'सत्य' की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो तो वह इसे भी सद्साहित्य की श्रेणी में स्वीकार कर सकता है।

3) कल्पना का विरोधी - वह दार्शनिक था। अत: उसका सम्बन्ध नित्य तर्क से था। कल्पना, फैंटेसी उसे रुचिकर नहीं थी। वह उस साहित्य को कभी उत्तम नहीं मानता था, जिसमें काल्पनिक बिम्बों की सृष्टि द्वारा भाव तृष्टि होती है जो आत्म परिष्कार में बाधक होता हैं।

4) अतिशय भावुकता- विरोधी- भावुकता एवं भावोव्दोलन भ्रान्ति की सृष्टि कर उन भावों और मनोवेगों को विकसित, पल्लवित करते हैं जिनसे विकार उत्पन्न होते हैं। अतः वह श्रेष्ठ काव्य के ऐसे अंशों का पक्षधर नहीं। इसी आधार पर उसने होमर की कृतियों में से भी ऐसे अंशों को निकाल देने की बात कही।

5) शक्ति, ज्ञान और अभ्यास - प्लेटो ने कवि में तीन गुणों की अपेज्ञा की अ) ईश्वर प्रदत्त या प्राकृतिक शक्ति, आ) आवश्यक नियमों का ज्ञान, (इ) अभ्यास।

6) शिवं का समर्थक – वह काव्य में शिवं का समर्थक है। वह उपदेश की महत्व नहीं देता। उसके अनुसार कला (काव्य) को भक्ति - स्वभाव की महत्ता की प्रस्तुत करना चाहिए।

2.9. प्लेटो का मूल्यांकन या महत्व :

प्लेटो ने पश्चिम में सर्वप्रथम काव्य - समीक्षा को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। उसने कविता के स्वरूप, गुण दोषों की तथा शैली के गुणों की स्थापना की।

प्लेटो की यह भी एक महत्ता स्वीकार की जा सकती है कि अरस्तु के प्रसिद्ध भाव-विरेचन सिद्धांत की नींव भी उसने रख दी थी। प्लेटो का युग वर्णनात्मकता का युग था। उसने वाक् पटुता को लक्ष्य करके लेखन-कला एवं कवि कर्म सम्बन्धी कतिपय नियम निर्धारित किए। प्लेटो मूलतः काव्य मीमांसक नहीं, दार्शनिक व राजनीति वेत्ता थे। उनका मूल लक्ष्य आदर्श गणराज्य की स्थापना करना था। फिर भी उन्होंने काव्य व कवि पर विचार प्रकट कर पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र की नींव रखी। उन्होंने काव्य सर्जना, काव्य-

प्रेरणा, काव्य प्रयोजन, काव्य के प्रकार, उपादेयता आदि प्रश्नों पर विस्तृत विचार का सूत्रपात किया - जिसको कालान्तर में अरस्तु व अन्य विद्वानों ने आगे बढ़ाया।

प्लेटो की तार्किकता, प्रखर अभिव्यंजना तथा प्रांजन कवित्वमयी शैली आकर्षक है। उनका काव्य विरोध भी काव्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ क्यों कि पक्ष- विपक्ष के तर्कों के प्रवाह ने आलोचना की भूमि को प्रशस्त किया। आलोचक न होने पर भी उनके लेखन में काव्यालोचन के जो संकेत-सूत्र मिले हैं, वे बड़े महत्वपूर्ण हैं। इन संकेतों ने उत्तरवर्ती आलोचना को विधि निषेध दोनों ही रूपों में प्रभावित व निर्देशित किया है।

प्लेटो का कला विषयक दृष्टिकोण विधेयात्मक या मानवीय है। अर्थाथ वे कला कैसी होनी चाहिए - इस विषय में कतिपय मानदण्ड स्थापित करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि सदैव उपयोगितावादी व नैतिकतावादी रही। उनकी दृष्टि में वही साहित्य सुन्दर है जो सत्य और शिव है। जो सत्य और शिव नहीं है, अर्थात समाज के लिए उपयोगी और नैतिक नहीं है, वह सर्वथा अग्राह्य है। साहित्य के दो प्रयोजनों - आनन्द और उपदेश - में ले वे सदैव उपदेश को प्राथमिकता प्रदान करते हैं।

कला की अनुकरण मूलकता की उद्धावना का श्रेय प्लेटो को हैं। प्लेटो ने ही सर्व प्रथम काव्य सर्जना पर विचार किया। इस प्रकार पाश्चात्य काव्य शास्त्र में नीव के पत्थर की तरह प्लेटो का महत्व अक्षुण्ण है।

2.10. सारांश :

प्लेटो ने मनुष्य की व्यापक परिवेश में सोचने के लिए प्रवृत्त किया। प्लेटो के समय तक कविता शिल्प कला की मात्र एक प्रक्रिया समझ जाती थी। प्लेटो ने कविता का एक स्वतन्त्र रूप प्रदान किया तथा मानव-जीवन के साथ उसको जोड़ दिया। प्लेटो ने काव्य के प्रतिमान इस प्रकार निर्धारित किये कि प्रबुद्धजन काव्यगत सत्य और जीवन-सत्य के भेद पर विचार करने के प्रति प्रवृत्त हो गये। प्लेटो श्रेष्ठ और उदात्त का पक्षपाती है।

प्लेटो पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य है, परन्तु उसके द्वारा निरूपित सिद्धान्त, मान्यताएँ एवं स्थापनाएँ आज भी विचारणीय है। प्लेटो का आचार्य वस्तुतः चिरनवीन है। वह अनेक परवर्ती कवियों एवं आचार्यों का प्रेरणा-स्त्रोत बना है और आज भी बना हुआ।

2.11. बोध प्रश्न :

1. प्लेटो का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसके कला सम्बन्धी दृष्टिकोण की स्पष्ट कीजिए।

2.प्लेटो के काव्य सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करते हुए उसके द्वारा प्रतिपादित श्रेष्ठ काव्य की व्याख्या कीलिए।

3) प्लेटो की काव्य सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए प्लेटो का विचारकों की श्रेणी में क्या महत्व है? यह स्पष्ट कीजिए।

सहायक ग्रंथ:

1) पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धांत - डॉ. हरि मौर्य

2) साहित्यिक निबन्ध - गणपति चन्द्र गुप्त

3) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र - डॉ.त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव

डॉ. एम. मंजुला

3. अरस्तु के सिद्धान्त

3.0. उद्देश्य

इकाई की रूपरेखा

3.1. प्रस्तावना

3.2. अरस्तु का जीवन परिचय

3.3. अरस्तु की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ

3.4. अरस्तु के अध्ययन की पद्धति

3.5. अरस्तु की अध्ययन पद्धति की विशेषताएँ

3.6. अनुकरण सिद्धांत

3.7. विरेचन सिद्धान्त

3.7.1. धर्मपरक व्याख्या

3.7.2. नीतिपरक व्याख्या

3.7.3. कलापरक व्याख्या

3.8. सारांश

3.9. बोध प्रश्न

3.10. संदर्भ ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत आप पाश्चात्य काव्य के चिंतक अरस्तु के सिद्धांतों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। इन सिद्धांतों के अध्ययन करने के उपरांत आप बता सकेंगे की अरस्तु ने किस प्रकार से अपने गुरु प्लेटो के द्वारा काव्य पर लगाए गए आक्षेपों का उत्तर दिया है। इसके अलावा अरस्तु के अनुकरण सिद्धान्त के बारे में तथा विरेचन सिद्धान्त के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.1. प्रस्तावना

यूनान के इतिहास में सुकरात और प्लेटो के बाद अरस्तू का ही नाम प्रसिद्ध है। इन तीनों दार्शनिक ने न केवल यूनान की गरिमा बढ़ाई बल्कि मानव ज्ञान के विकास में भी महान योगदान दिया। अरस्तू प्लेटो के सबसे प्रिय शिष्य थे और राजनीतिक दर्शन में अपने गुरु से प्रेरित थे, किन्तु दोनों के राजनीतिक विचारों में विशेषकर अध्ययन पद्धति में मौलिक अन्तर मिलता है। प्लेटो जहाँ आदर्शवादी, कल्पनावादी तथा हवाई योजनाएँ बनाने वाले व्यक्ति हैं। वही अरस्तु यथार्थवादी, व्यवहारवादी तथा वास्तविकताओं से युक्त है। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में जहाँ प्लेटो ने चिन्तन की निगमन प्रणाली (Deductive Method) अपनाई, वहीं अरस्तू ने आगमन पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया। प्लेटो के दर्शन में जहाँ आदर्श और कवित्व का पुट है, अरस्तू के दर्शन में यथार्थवादिता और वैज्ञानिकता का समावेश है। प्लेटो की तरह अरस्तू का दर्शन भी बहुमुखी है। राजनीतिशास्त्र के अतिरिक्त नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, प्रकृतिविज्ञान जैसे विषयों का भी उन्हें महान ज्ञाता माना जाता है। प्लेटो ने काव्य पर जो आक्षेप लगाए थे उन्हीं आक्षेपों का समाधान अरस्तू ने अपने इन सिद्धनातों के माध्यम से कर के काव्य को उत्कृष्टता प्रदान की है।

3.2. अरस्तु का जीवन परिचय

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का मूल स्त्रोत है यूनानी ज्ञान-विज्ञान और यूनानी ज्ञान-विज्ञान की मूल प्रेरणा केंद्र थी अरस्तु की प्रतिभा। यूनानी भाषा में अरस्तु का वास्तविक नाम है अरिस्तोतेलेस। अरस्तु का जन्म ई॰ पू॰ 384 स्तगिरा नामक नगर में हुआ था। उनके पिता मकदूनिया के राजा के दरबार में शाही वैद्य थे। इस प्रकार अरस्तु के जीवन पर मकदूनिया के दरबार का काफी गहरा प्रभाव पड़ा था। वे अरस्तु को वैद्यक के व्यवसाय में दीक्षित करना चाहते थे। किन्तु शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो जाने के कारण उनका जीवन मार्ग बादल

गया। ई॰ पू॰ 358 में एथेंस में आकर प्लेटो के प्रसिद्ध विध्यापीठ में दाखिल हो गए और वहीं पर रहकर बीस वर्षों तक प्लेटो से शिक्षा प्राप्त किये।

पढाई के अंतिम वर्षो में वो स्वयं अकादमी में पढाने लगे। अरस्तु को उस समय का सबसे बुद्धिमान व्यक्ति माना जाता था जिसकी प्रशंसा स्वयं उनके गुरु भी करते थे। प्लेटो अरस्तु की प्रतिभा को देखकर उन्हें 'विद्यापीठ का मस्तिष्क' कहा करते थे। यद्यपि अरस्तु ने प्लेटो के अनेक सिध्दांतों का दृढ़तापूर्वक खंडन किया, फिर भी गुरु-शिष्य के संबंध प्रायः अंत तक मधुर ही बने रहे। ई॰ पू॰ 348 के लगभग प्लेटो की मृत्यु के पश्चात अरस्तु हरमेइअस के निमंत्रण पर एथेंस छोड़ कर चले गये और अक्सौस नगर में उन्होंने अकादमी की एक शाखा स्थापित की। वो वहा पर तीन वर्ष रहे और इस दौरान उन्होंने राजा की भतीजी हपिलिस नामक महिला से विवाह कर लिया। अरस्तु की ये दुसरी पत्नी थी। उससे पहले उन्होंने पिथियस नामक महिला से विवाह किया था जिसके मौत के बाद उन्होंने दूसरा विवाह किया था। इसके बाद उनके यहाँ नेकोमैक्स नामक पुत्र का जन्म हुआ। सबसे ताज्जुब की बात ये है कि अरस्तु के पिता और पुत्र का नाम एक ही था। शायद अरस्तु अपने पिता को बहुत प्रेम करते थे इसी वजह से उनकी याद में उन्होंने अपने पुत्र का नाम भी वही रखा था।

मेसेडोनिया के राजा फिलिप के निमन्त्रण पर वो उनके तेरह वर्षीय पुत्र सिकंदर को पढाने लगे। पिता-पुत्र दोनों ही अरस्तु को बड़ा सम्मान देते थे। लोग यहा तक कहते थे कि अरस्तु को शाही दरबार से काफी धन मिलता है और हजारो गुलाम उनकी सेवा में रहते है। हालंकि ये सब बाते निराधार थी। सिकंदर के राजा बनाने के बाद भी वे वही पर रहे। ई॰ पू॰ 335 में उन्होंने एथेंस के निकट अपोलो में अपना एक स्वतंत्र विद्यापीठ 'लीसियम' नाम से स्थापित किया जहाँ विद्या के प्रायः सभी अंग-उपांगों का अध्ययन-अध्यापन होता था। अरस्तु की अध्यापन शैली बड़ी विचित्र थी। वे अक्सर प्रवचन देते समय टहलते रहते थे इसलिए कुछ समय बाद उनके अनुयायी पेरीपेटेटिक्स कहलाने लगे। ई॰ पू॰323 में बेबीलोन में सिकंदर की मृत्यु हो गई। तभी से अरस्तु के लिए संकट काल आरंभ हुआ। सिकंदर और मेसेडोनिया के राजवंश के साथ उनका संबंध और उनका निर्भीक स्वतंत्र जीवन दर्शन दोनों ही बाधक सिध्द हुए और यह आशंका होने लगी कि कहीं उनका भाग्य भी सुकरात जैसा ही न हो। अतः एथेंस से उन्हें प्राण रक्षा के लिए पलायन करना पड़ा।

एथेंस छोड़ते समय उनका यह कहना था कि ‘ मैं एथेंस इसलिए छोड़ रहा हूँ कि कहीं एथेंस की जनता दर्शन के विरूध्द फिर दूसरी बार अपराध न कर बैठे’। एथेंस से लौटने के एक वर्ष बाद ई॰ पू॰ 322 में अपनी जन्मभूमि स्तगिरा के निकट खलकिस नामक नगर में आन्त्र-रोग के कारण उनकी मृत्यु हो गयी ।

अरस्तु की प्रतिभा बहुमुखी थी । वे यूनानी दार्शनिक थे । उनकी की गिनती अपने समय के विद्वानों के साथ साथ संसार के समस्त महान लोगों और खासकर दार्शनिकों की बीच होती रही है। अरस्तु परम्पराओं पर भरोसा न करके किसी भी घटना की जाँच के बाद ही किसी नतीजे पर पहुंचते थे। उनको रिसर्च करना बहुत अच्छा लगता था, खासकर ऐसे विषयों पर जो मानव स्वाभाव से जुड़े है । जैसे कि आदमी को जब भी समस्या आती है वो क़िस तरह से इनका सामना करता है ? और आदमी का दिमाग किस तरह से काम करता है। समाज को लोगों से जोड़े रखने के लिए काम करने वाले प्रशासन में क्या ऐसा होना चाहिए जो सर्वदा उचित तरीके से काम करें । ऐसे प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए अरस्तु अपने आस पास के माहौल पर प्रायोगिक रुख रखते हुए बड़े इत्मिनान के साथ काम करते रहते थे। उन्होंने कई दार्शनिक ग्रंथो की रचना की । कहते हैं कि वे अपने 62 वर्ष के जीवन में प्रायः 400 ग्रन्थों की रचना की जिस का विवेच्य विषय तर्कशास्त्र, तत्त्वमीमांसा, मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, ज्योतिविज्ञान, राजनीति शास्त्र, आचार शास्त्र, साहित्य शास्त्र आदि । साहित्य शास्त्र से सम्बद्ध उनके दो ग्रंथ है – 1) भाषण शास्त्र 2) काव्य शास्त्र । अतः हम कह सकते हैं कि इस तरह अरस्तु महान दार्शनिक प्लेटो के शिष्य और सिकन्दर के गुरु बनकर इतिहास के पन्नो में महान दार्शनिक के रूप में अमर हो गये ।

3.3. अरस्तु की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ

अरस्तु की महानता उसके जीवन से नहीं, अपितु उसकी रचनाओं से स्पष्ट होती है। उन्होंने गणित को छोड़कर मानवजीवन और प्राकृतिक विज्ञान के हर क्षेत्र को छुआ है । उन्होंने दर्शन, साहित्य, यन्त्र-विज्ञान, भौतिकशास्त्र, शरीर विज्ञान, खगोल विद्या, शासन कला, आचारशास्त्र, लेखन कला, भाषण कला, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विषयों पर लेख लिखे हैं। उनके गम्भीर और प्रभावशाली लेखन कार्य को देखकर यह कहा जाता है कि सबसे महान दार्शनिक चिन्तक है । मैक्सी ने उसे ‘सर्वज्ञ गुरु’ और दाँते ने उसे ‘ज्ञाताओं

का गुरु' की संज्ञा दी है। कैटलिन ने उसे सामान्य बुद्धि और स्वर्ण मार्ग का सर्वोच्च धर्मपूत कहा है। उसके लेखन कार्य की महानता को देखकर फोस्टर ने कहा है- "अरस्तु की महानता उसकी रचनाओं में है, न कि उसके जीवन में।" उस की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस कथन को स्पष्ट करती हैं कि वह अपने समय के यूनानी ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोष थे। अरस्तु ने लगभग 400 ग्रन्थों की रचना की। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने उसके समस्त ग्रन्थों को 12 खण्डों में प्रकाशित किया है, जिसमें पृष्ठों की संख्या 3500 है। उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'पॉलिटिक्स' है। उसकी रचनाओं को सामान्य रूप से तार्किक, वैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय एवं दार्शनिक चार वर्गों में बाँटा जा सकता है। 'कैटेगरीज' (Categories), 'टॉपिक्स' (Topics), 'प्रायर एनालीटिक्स' (Prior Analytics), 'पोस्टेरियर एनालीटिक्स' (Posterior Analytics), 'प्रोपोजीशन्स' (Propositions), 'सोफिस्टिकल रेफुटेशन' (Sophistical Refutation) आदि रचनाएँ तार्किक रचनाएँ हैं। उसने भौतिकशास्त्र, जीव-विज्ञान, ऋतुविज्ञान आदि वैज्ञानिक विषयों पर भी लिखा। 'मैटरोलॉजी' (Meterology) तथा 'हिस्ट्री ऑफ एनीमल' (History of Animals) आदि रचनाएँ वैज्ञानिक कोटि की हैं। 'रेटोरिक' (Rhetoric) और 'पोएटिक्स' (Poetics) रचनाएँ सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत आती हैं। 'मेटाफिजिक्स' (Metaphysics), 'निकोमाकियन एथिक्स' (Nicomachean Ethics) एवं 'पॉलिटिक्स' (Politics), 'दॉ कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ एथेन्स' (The Constitution of Athens) दर्शनशास्त्र की रचनाएँ हैं। 'यूडेमस' (Eudemus), 'काइलो' (Caelo) तथा 'डी अनिमा' (De Anima) अरस्तु की अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

इन ग्रन्थों में बहुत से ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। उनमें केवल दो ही ग्रंथ उप लब्ध हैं- 1) लेखनेस रितेरिकेस (भाषण कला से संबंधित) 2) पेरि पोइएटिकेस (अध्यापन संबंधी संपादकीय सामग्री) इन ग्रंथों में उनके साहित्य संबंधी विचार उपलब्ध होते हैं । पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू द्वारा लिखित 'काव्यशास्त्र' का स्थान महत्वपूर्ण है । अरस्तु के काव्यशास्त्र का यूनानी नाम है 'पेरि पोइएटिकेस 'जिसका अंग्रेजी रूपांतरण के मूल 'ऑन पोएटिक्स' किंतु वह केवल 'पोएटिक्स' नाम से प्रसिद्ध है।

3.4. अरस्तु के अध्ययन की पद्धति

अरस्तु राजनीति दर्शन के इतिहास में एक ऐसे प्रथम चिन्तक है जिन्होंने एक परिपक्व विद्वान की तरह क्रमबद्ध ढंग से साहित्य का सर्जन किया है । इसी कारण उन्हें प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक होने का श्रेय प्राप्त हुआ। अरस्तु की रचनाएँ कल्पना की उड़ान न होकर वास्तविकता से सम्बन्ध रखती हैं और उनमें प्रौढ़ावस्था का अनुभव है । मैक्सी के अनुसार -"अरस्तु ने प्राय: वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method) का अनुसरण किया है।" इसी प्रकार बार्कर ने भी लिखा है -"अरस्तु ने एक वैज्ञानिक की तरह लिखा है, उसके ग्रन्थ क्रमबद्ध, समीक्षात्मक एवं सतर्क हैं । उसमें कल्पना की उड़ान नहीं यथार्थ का पुट है।" अरस्तु ने अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण बचपन से विशेष घटनाओं और तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर प्राप्त अनुभवों का पूरा लाभ उठाया और सामान्य सिद्धान्त कायम करने में सफल रहे। उन्होंने अपने चिन्तन में जीव-विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति में जो अभिरुचि दिखाई, वह उनके पारिवारिक वातावरण की ही देन है । अत: उन्हें वैज्ञानिक अनुभव विरासत के रूप में प्राप्त हुआ, जिस पर उन्होंने अपना लेखन कार्य किया ।

3.5. अरस्तु की अध्ययन पद्धति की विशेषताएँ

अरस्तु ने सर्वप्रथम राजनीतिशास्त्र का अध्ययन करते समय आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) का ही प्रयोग किया। यह पद्धति विशेष से सामान्य की ओर बढ़ती है। इसमें घटनाओं का सामान्यीकरण किया जाता है। अरस्तु ने भी घटनाओं का सामान्यीकरण किया है। बार्कर ने अरस्तु की आगमनात्मक पद्धति के बारे में लिखा है- "इस अध्ययन पद्धति का सार था निरीक्षण करना तथा सम्बन्धित आँकड़े एकत्रित करना और इसका उद्देश्य था, प्रत्येक विचार्य विषय का कोई सामान्य सिद्धान्त खोज निकालना।" अरस्तु ने इस पद्धति का प्रयोग तथ्यों के निरीक्षण, संग्रह, समायोजन, तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने में किया है। अत: अरस्तु दृश्यमान जगत् के वास्तविक पदार्थों को अपने विचार का आधार बताते हुए स्थूल सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं ।

अरस्तु की एक और पद्धति है जिसे विश्लेषणात्मक (Analytical) पद्धति कहा जात है। इस पद्धति के अन्तर्गत किसी विषय या वस्तु के निर्माणकारी अंगों को अलग करके उनका अध्ययन किया जाता है।

उदाहरण के लिए अरस्तु ने राज्य के स्वभाव का अध्ययन करने से पहले उसके निर्माणकारी तत्त्वों - परिवारों और गाँवों का अध्ययन किया है। जीवन का अध्ययन करने के लिए अरस्तु ने जीवन को तीन भागों विभजित करते हैं 1) पौष्टिक (Nutrative) 2) संवेदनशील (Sensitive) 3) बौद्धिक (Rational) में बाँटकर सामान्य सिद्धान्त की खोज करते हैं। इसी प्रकार अरस्तु ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पालिटिक्स' के तीसरे अध्याय में नागरिकों को निर्माणकारी तत्त्व मानकर राज्य का अध्ययन किया है। अपनी इसी पद्धति के आधार पर अरस्तु ने विभिन्न शासन प्रणालियों में क्रान्ति के कारणों का अध्ययन किया है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक पद्धति अरस्तु के अध्ययन पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

अरस्तु ने अपने समय के विविध विषयों के बारे में जानने के लिए ऐतिहासिक घटनाओं का भी सहारा लिया है। उसने यूनानी समाज में प्रचलित 158 देशों की राजव्यवस्थाओं के ऐतिहासिक और तत्कालीन कार्य-कारण का अध्ययन किया है। अरस्तु के इन विचारों के कारण उन्हें ऐतिहासिक विधि (Historical Method) का जनक भी कहा जाता है।

अरस्तु ने तत्कालीन यूनानी समाज में प्रचलित 158 देशों की शासन पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन है। इस कारण अरस्तु को तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method) का जनक कहा जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत उन्होंने प्रत्येक किस्म के संविधान के गुणों व दोषों का अध्ययन करके तुलनात्मक निष्कर्ष निकाले हैं।

अत: निष्कर्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि अरस्तु ने अनुभव के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया है। उसकी पद्धति आगमनात्मक, ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक है। वह तथ्यों का अध्ययन करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उन्होंने इतिहास की घटनाओं का व्यापक विश्लेषण किया है। विभिन्न देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करके तुलनात्मक पद्धति को जन्म दिया हैं। राजनीतिशास्त्र को एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण विज्ञान का रूप प्रदान किया है। राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग करके एक सर्वोच्च विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए अरस्तु को यथार्थवादियों, वैज्ञानिकों, व्यवहारवादियों एवं उपयोगितावादियों का जनक माना जाता है।

3.6. अनुकरण सिद्धांत

'यूनान' पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, कला, विज्ञान आदि का मूल स्रोत है और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में यूनानी विद्वान अरस्तू का स्थान इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि यदि उन्हें पाश्चात्य विद्याओं का आदि आचार्य भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। अरस्तू मूलत: वैज्ञानिक, तार्किक तथा दार्शनिक थे। एक ओर वे प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के शिष्य थे तो दूसरी ओर विश्वविजेता सिकंदर के गुरु थे। वे बहुमुखी प्रतिभा शाली थे। इसलिए प्लेटो ने कहा कि मेरे विद्यापीठ के दो भाग हैं- एक है शरीर और दूसरा मस्तिष्क, अन्य सभी छात्र शरीर हैं और अरस्तू मस्तिष्क है।

अरस्तू का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत 'अनुकरण सिद्धांत' है। उनके अनुसार सभी कलाओं का मूल तत्व अनुकरण ही है। काव्य भी एक कला है। अतः काव्य की उत्पत्ति भी अनुकरण से ही होती है। यदि भारतीय शब्दा वली का प्रयोग करें तो कह सकते है कि अरस्तू के विचार से काव्य की आत्मा अनुकरण है। प्लेटो ने 'अनुकरण' शब्द के लिए यूनानी भाषा (ग्रीक) में 'मिमेसिस' (mimesis) शब्द का प्रयोग किया था। मिमेसिस' शब्द का अंग्रेजी अनुवाद 'Imitation' (इमिटेशन) है जो हिंदी में 'अनुकरण' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्राचीन यूनान में कला की मीमांसा नैतिक दृष्टि से होती थी। इसलिए उनका मत था कि कला सच्चे रूप में अनुकरणात्मक होती है। सबसे पहले सुकरात ने इस विषय के संदर्भ में विवेचन करते हुए कहा कि 'मन के आंतरिक भावनाओं का अनुकरण चेहरे से इंगित हो सकता है'। प्लेटो ने 'अनुकरण' को 'नकल' के समतुल्य बतलाकर इसे निम्न कोटि का व्यापार माना था। इसी कारण उन्होंने काव्य को 'अनुकरण का अनुकरण' मानकर उसे त्याज्य बतलाया तथा कहा कि- 'कवियों को देश से निकाल देना चाहिए। पर अरस्तु ने अनुकरण शब्द को नवीन अर्थ की व्याप्ति प्रदान कर उसकी विस्तृत व्याख्या की।

अरस्तू ने अनुकरण शब्द अपने गुरु प्लेटो से ही लिया है, किंतु उन्होंने अनुकरण के संदर्भ में अपने गुरु प्लेटो की मान्यताओं के बिल्कुल विपरित अर्थ को स्थापित किया है। प्लेटो के अनुकरण सिद्धांत में अरस्तू ने अपनी कल्पना के माध्यम से नया रंग भरते हुए सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया। अरस्तू ने काव्य को सौंदर्यवादी दृष्टि से देखा और उसे दार्शनिक, राजनीतिक तथा नीति शास्त्र के बंधन से मुक्त किया। अरस्तू के

अनुसार कला प्रकृति का अनुकरण है। इस संदर्भ में अरस्तू ने अपनी पुस्तक भौतिक शास्त्र में कहा है कि यह प्रकृति का अनुकरण है। यह अनुकरण मात्र सजीव या निर्जीव का अनुकरण नहीं बल्कि कलात्मक अनुकरण है। दूसरे शब्दों में कहा जय तो यह पुनः सृजन है। वस्तु का उन्नत रूपांतरण है।

अरस्तु अपने काव्यशास्त्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कलाकार के सामने तीन विकल्प होते हैं-

(1) जो वस्तुएँ जैसी थी या हैं (वस्तुस्थिति)

(2) उन वस्तुओं को जैसा माना जाता है (मान्यता)

(3) उन वस्तुओं को जैसा होना चाहिए (आदर्शत्मिक)

कलाकार अपने संस्कार, वातावरण, मान्यता, विश्वास आदि के आधार पर किसी भी वस्तु या स्थिति का मनचाहा रूप प्रस्तुत करता है। यह नवीन पात्रों व स्थितियों की सर्जना करता है। वस्तु जगत् में जिसकी स्थिति नहीं है, उसकी भी कल्पना के द्वारा सृष्टि करता है। यह वस्तुतः सौन्दर्यात्मक पुनः सृजन है।

अरस्तू ने अनुकरण को इतना अधिक महत्व दिया है कि उनके विचार से काव्य की सृष्टि और उसके आस्वादन का मूल कारण अनुकरण ही है। वे काव्य के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए लिखते है कि कविता सामान्यतः दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है। इसमें से पहला कारण है मानव सहज स्वाभाविक अनुकरण की प्रवृत्ति। अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में बचपन से ही विद्यमान रहती है। मनुष्य और अन्य प्राणियों में एक अंतर यह है कि वह सभी प्राणियों में सबसे अधिक अनुकरणशील होता है तथा आरंभ में वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। कविता की उत्पत्ति के पीछे दूसरे कारण के रूप में वे सामंजस्य और लय की प्रवृत्ति को मानते हैं।

अरस्तु का यह भी मानना है कि काव्य प्रकृति का कोरा अनुकरण या नकल नहीं होता है। वह मूल से भी अधिक जीवंत, सुन्दर व आकर्षक होता है। उसमें यथार्थ का अनुकरण या प्रतिबिंब मात्र नहीं होता, प्रत्युत एक परिष्कृत सुस्पष्ठ रूप होता है। अतः कलाकृति वस्तु का प्रतिफल नहीं, कलाकार के मनोवेग तथा बिम्बों की अभि व्यंजना है।

अरस्तू ने काव्य के संदर्भ में जो अनुकरण शब्द का प्रयोग किया है उसका अर्थ उत्पादन या सर्जन से है। अनुकरण केवल बाह्य प्रकृति का न होकर अंतः प्रकृति का भी होता है। कलाकार बाह्य प्रकृति से सामग्री का चयन कर उसे अपने ढंग के अनुसार संयोजित करता है। इस प्रकार कला अनुभूति को जन्म देती है। कलाकार अनुकरण के माध्यम से प्रकृति द्वारा प्रस्तुत नग्न यथार्थ का परित्याग कर उसके विकास की अवरोधक घटनाओं तथा परिस्थितियों से उसे मुक्त करते हैं। इस प्रकार कलाकार अपनी कल्पना और संवेदनशीलता के जरिए प्रकृति में जो अपूर्ण होता है उसे पूर्ण रूप प्रदान करता है।

प्लेटो ने अनुकरण को हूबहू चित्रण माना परंतु अरस्तू ने उसमें भावना व कल्पना का समावेश कर उसे भावात्मक अनुकरण बताया। प्लेटो का अनुकरण वस्तुजन्य है जब कि अरस्तू का भावजन्य है। अरस्तू ने कला में 'शिवत्व' से अधिक 'सुन्दरता' को महत्व प्रदान किया। इस प्रकार अरस्तू ने तार्किक विवेचन द्वारा समग्र कला-सर्जना की प्रक्रिया पर विचार करते हुए कलाकृति के निर्माण को 'अनुकरण' की निम्नता से ऊपर उठाकर, उसे पुनःसृजन की गरिमा प्रदान की।

अंततः यह कहा जा सकता है कि अरस्तु के अनुसार अनुकरण के विषय जीवन का बहिरंग पक्ष ही नहीं हैं, अपितु अंतरंग पक्ष- विचार, अनुभूति, कल्पना आदि भी हैं और इन दोनों में भी अंतरंग पक्ष की प्राधान्य है, क्योंकि अनुकरण यथार्थ रुप का ही नहीं, संभावित रूप का भी किया जाता है।

3.7. विरेचन सिद्धान्त

प्लेटो का मत था कि कविता अनुकरण का अनुकरण है, सत्य से दुगनी दूरी पर है, अतः त्याज्य है। अपनी पुस्तक द रिपब्लिक में कविता पर आक्षेप करते हुए उन्होंने लिखा है कि कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती हैं, क्योंकि वह बुद्धि को प्रभावित करने के बजाय भावनाओं को प्रभावित करती है। इसके विपरीत अरस्तु का कला-सम्बन्धी मत सौन्दर्य-शास्त्र पर आधारित है। अतः उन्होंने प्लेटो के सिद्धांत का विरोध करते हुए भावों के विरेचन की बात कहीं। अपने समय में प्रचलित चिकित्सा-पद्धति के शब्द से संकेत ग्रहण कर उन्होंने उस शब्द के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा प्लेटो के आक्षेप का उत्तर दिया है।

विरेचन' यूनानी कथार्सिस (Katharsis) का हिन्दी रूपान्तर है। यूनानी चिकित्साशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है- 'कैथार्सिस' और भारतीय चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) का पारिभाषिक शब्द है- 'विरेचन'। इसका अर्थ है- रोचक, औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों अर्थात् उदर के विकारों की शुद्धि। स्वास्थ्य के लिए जिस प्रकार शारीरिक मल का निष्कासन-शोधन आवश्यक है, उसी प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह और क्रोध आदि मानसिक मलों का निष्कासन एवं शोधन आवश्यक है।

अरस्तू ने 'कैथार्सिस' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग मानव-मन पर पड़नेवाली त्रासदी के प्रभाव का उद्घाटन करने के लिए किया है। अरस्तू का अभिमत है- त्रासदी किसी गम्भीर स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य को अनुकृति का नाम है।... जिसके करुणा त्रास से उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है। इसी प्रकार त्रासदी केवल अवांछनीय भावनाओं को ही उद्दीप्त नहीं करती, अपितु करुणा और त्रास के कृत्रिम उद्रेक द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास की भावनाओं का निष्कासन करती है।

विरेचन का अर्थ है दुखांत कार्य व्यापार द्वारा करुणा व भय को उत्पन्न कर, उन भावों के अतिरेक को मन से निकाल देना जिससे कि मानसिक संतुलन की स्थिति प्राप्त हो। अरस्तू ने 'दुखांत' की परिभाषा देते हुए इस शब्द का प्रयोग किया है "दुखांत ऐसे कार्य व्यापार का अनुकरण है- जो करुण व भय का उद्रेक कर, इन भावों का उचित विरेचन करे। विद्वानों ने समाजशास्त्र की कई परम्पराओं में 'विरेचन' की प्रक्रिया को खोजने का प्रयत्न किया है जैसे किसी देवता द्वारा आविष्ट हो जाने पर गाजे बाजे के तीव्र स्वर द्वारा उसे शान्त करने का प्रयत्न करना। काव्य शास्त्र में विरेचन की व्याख्या मानसिक व कलात्मक ही होनी चाहिए।

अरस्तू ने विरेचन द्वारा प्लेटो के आरोप का उत्तर दिया। उनका कहा है कि भावों का दमन हितकर नहीं है। भावों का पूर्णतः दमित करने के बदले उन्हें संतुलित करना व उनका परिष्कार करना अच्छा है। अरस्तु के अनुसार दुखांत ऐसे कार्य व्यापार का अनुकरण है जो गम्भीर, पूर्ण तथा विस्तृत हो, जिसकी भाषा कलात्मक व अलंकार युक्त हो जो कार्य व्यापार के रूप में हो, आख्यान के रूप में नहीं, जो करुणा व भय को उद्बुद्ध कर, इन भावों का उचित विरेचन करे।"

उन्होंने दुखांत के छः अंग माने जो निम्न प्रकार से हैं-

(1) कथानक – Plot

(2) चरित Character

(3) विचार – Thought

(4) पद-योजना-Diction

(5) गीत – Song

(6) दृश्य-Spectle

अरस्तु ने विरेचन का उल्लेख संगीत के संदर्भ में भी किया है। पॉलिटिक्स नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि धार्मिक उल्लास के नृत्य और रहस्यात्मक संगीत हमारे मनोविकारों का विरेचन करते हैं। वे लिखते हैं कि करुणा और त्रास जैसे आवेग कुछ व्यक्तियों में बहुत प्रबल होते हैं। रहस्यात्मक और आवेगों को उद्धव करने वाले उद्दाम रागों के प्रभाव से वे उत्तेजित होकर पालतू हो जाते हैं इससे मन शांति और आनंद का अनुभव करता है। व्याख्याकारों ने अरस्तू के 'विरेचन सिद्धान्त' के प्रायः तीन अर्थ किए हैं –

1. धर्मपरक व्याख्या

2. नीतिपरक व्याख्या

3. कलापरक व्याख्या

3.7.1. धर्मपरक व्याख्या

भारत के समान ही, यूनान में भी नाटक का आरंभ धार्मिक उत्सवों से ही माना जाता है। अरस्तु के विरेचन की धर्मपरक व्याख्या करने का श्रेय प्रो. गिलबर्ट मरे को जाता है। उनके अनुसार वर्षारंभ पर दियान्युसस नामक देवता से संबद्ध उत्सव मनाया जाता था, जिसमें उससे यही प्रार्थना की जाती थी कि वह पाप, कुकर्मों से मुक्ति दिलाकर, आगामी वर्षों में विवेक व शुद्ध-हृदय प्रदान करके मृत्यु और कलुष का नाश करे। लिवि की मान्यता है कि अरस्तू के समय यूनान में त्रासदी का प्रवेश हो गया था, जिसके पीछे कोई

कलात्मक उद्देश्य नहीं था, मात्र अंधविश्वास ही प्रमुख था। उनकी मान्यता थी कि यह उत्सव विपत्तियों का नाशक हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि त्रासदी देखने के पीछे श्रद्धालुओं का उद्देश केवल नाट्य कला का आनंद उठाना नहीं, अपितु यह विश्वास भी था कि त्रासदी के देखने से देवता प्रसन्न होते हैं मृत्यु और महामारी जैसी बाधाएँ दूर होती हैं। अतः विरेचन से अरस्तु का अभिप्राय था मनोवेगों की उत्तेजना और उनके दमन से होने वाली मानसिक शांति।

3.7.2. नीतिपरक व्याख्या

अरस्तु के विरेचन सिद्धान्त की नीतिपरक व्याख्या करने वालों में जर्मन विद्वान बारनेज का नाम मुख्य है। उन्होंने इस सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। उसके अनुसार मानव-मन अनेक मनोविकारों से, सुषुप्त वासनाओं से आक्रान्त रहता है। काम, क्रोध, भय, शोक आदि मनोविकार होते हैं जिनमें करुण और भय, मूलतः दुःखद मनोवेग हैं। त्रासदियों में मंच पर ऐसे दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं, जो त्रास और करुणा को उद्वेलित करते हैं। दर्शक जब इन दृश्यों को देखता है तो पात्रों के भावों के साथ तन्मय हो जाता है। वह मानसिक स्तर पर स्वयं उन स्थितियों से गुजरता है। इसके कारण उनमें भय, करुणा आदि मनोभाव उद्वेलित हो उठाते हैं और कुछ समय के पश्चयत शांत हो जाते हैं। अतः विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ - मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का दमन और तज्जन्य मानसिक विशदता।

3.7.3. कलापरक व्याख्या

कलापरक व्याख्या में विरेचन के दो पक्ष है अभावात्मक और भावात्मक। मनोवेगों के उत्तेजन के पश्चयात् उनके दमन से उत्पन्न मनः शांति उनका अभावात्मक पक्ष है, जबकि इसके उपरांत उत्पन्न कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। इस संदर्भ में अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो॰ बूचर का अभिमत है कि विरेचन केवल मनोविज्ञान अथवा निदानशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला-सिद्धान्त का अभिव्यंजक है। इस प्रकार त्रासदी का कर्त्तव्य-कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना ही नहीं अपितु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है। इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत और स्पष्ट करना है। विरेचन का अर्थ यहाँ व्यापक है- मानसिक संतुलन इसका पूर्व भाग

मात्र है, परिणति उसकी कलात्मक परितोष का परिष्कार ही है जिसके बिना त्रासदी के कलागत आस्वाद का वृत्त पूरा नहीं होता।

डॉ.एस.एस. गुप्ता ने जर्मन विद्वान वानरेज़ का उल्लेख करते हुए अरस्तु के विरेचन सिद्धान्त की मानसिक व्याख्या की है। उनके अनुसार मानव मन में अनेक मनोविकार वासना रूप में स्थित होते हैं। उन्हें संतुलित करना वांछनीय है, दमित करना नहीं। करुणा और त्रास के मनोभाव दुखद होते हैं। त्रासदी देखकर पहले तो भाव उद्वेलित होते हैं फिर उपशमित हो जाते हैं। प्रेक्षक त्रासदी देखकर मानसिक शांति का, सुख का अनुभव करता है, क्योंकि दुःखद भावों का दंश समाप्त हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं की अरस्तु द्वारा प्रतिपादित यह विरेचन सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जिसमें दुःखान्त नाटकों की मीमांसा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

3.8. सारांश

इस इकाई में आपने पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के मूल स्रोत, यूनानी ज्ञान विज्ञान के मूल-प्रेरणा केंद्र अरस्तु के जन्म, साहित्यि परिचया एवं उनके सिद्धन्तोंके बारे में जानकारी प्राप्त (अनुकरण एवं विरेचन) की। उनके गुर प्लेटो द्वारा काव्य संबंधी मान्यताओं और कवि तथा काव्य के प्रति उनके आक्षेपों का अरस्तू द्वारा किये गये समाधानों का आध्यान किया। अरस्तु ने अनुभव के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया है। उसकी पद्धति आगमनात्मक, ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक है। वह तथ्यों का अध्ययन करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उन्होंने इतिहास की घटनाओं का व्यापक विश्लेषण किया है। विभिन्न देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करके तुलनात्मक पद्धति को जन्म दिया हैं। राजनीतिशास्त्र को एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण विज्ञान का रूप प्रदान किया है। राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग करके एक सर्वोच्च विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए अरस्तु को यथार्थवादियों, वैज्ञानिकों, व्यवहारवादियों एवं उपयोगितावादियों का जनक माना गया।

अरस्तू का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत 'अनुकरण सिद्धांत' है। उनके अनुसार सभी कलाओं का मूल तत्व अनुकरण ही है। काव्य भी एक कला है। अतः काव्य की उत्पत्ति भी अनुकरण से ही होती है।

उनका मत था कि कला सच्चे रूप में अनुकरणात्मक होती है। सबसे पहले सुकरात ने इसका विवेचन करते हुए कहा कि 'मन के आंतरिक भावनाओं का अनुकरण चेहरे से इंगित हो सकता है'। प्लेटो ने 'अनुकरण' को 'नकल' के समतुल्य बतलाकर इसे निम्न कोटि का व्यापार माना था। अरस्तू ने अनुकरण शब्द अपने गुरु प्लेटो से ही लिया है, किंतु उन्होंने अनुकरण के संदर्भ में अपने गुरु प्लेटो की मान्यताओं के बिल्कुल विपरित अर्थ को स्थापित किया है। प्लेटो के अनुकरण सिद्धांत में अरस्तू ने अपनी कल्पना के माध्यम से नया रंग भरते हुए सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया। अरस्तू ने काव्य को सौंदर्यवादी दृष्टि से देखा और उसे दार्शनिक, राजनीतिक तथा नीति शास्त्र के बंधन से मुक्त किया। अरस्तू के अनुसार कला प्रकृति का अनुकरण है। अरस्तु का यह भी मानना है कि काव्य प्रकृति का कोरा अनुकरण या नकल नहीं होता है। वह मूल से भी अधिक जीवंत, सुन्दर व आकर्षक होता है। उसमें यथार्थ का अनुकरण या प्रतिबिंब मात्र नहीं होता, प्रत्युत एक परिष्कृत सुस्पष्ठ रूप होता है। अतः कलाकृति वस्तु का प्रतिफल नहीं, कलाकार के मनोवेग तथा बिम्बों की अभि व्यंजना है।

अरस्तु का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है विरेचन सिद्धान्त। इस के अंतर्गत अपने विरेचन के अर्थ को समझने के क्रम में देखा है कि यह चिकिसाशास्त्र का शब्द है और इस का प्रयोग रोचक औषधियाँ देकर शरीर को विकारमुक्त और स्वस्थ करने के अर्थ में किया गया है। जिस प्रकार शारीरिक मल का स्वास्थ्य के लिए निष्कासन-शोधन आवश्यक है, उसी प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह और क्रोध आदि मानसिक मलों का निष्कासन एवं शोधन आवश्यक है। इसके अलावा अरस्तु ने विरेचन का उल्लेख संगीत के संदर्भ में भी किया है। पॉलिटिक्स नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि धार्मिक उल्लास के नृत्य और रहस्यात्मक संगीत हमारे मनोविकारों का विरेचन करते हैं। इससे यह माना जा सकता है की मनोवैज्ञानिक स्तर पर विरेचन का अर्थ (त्रासदी व संगीत के प्रभाव) विकारों से मुक्ति तथा शुद्धि ही है। इसके बाद अपने विरेचन के संदर्भ में विद्वानों के द्वारा मान्य व्याख्याओं का अध्ययन किया है।

अंततः हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महान आलोचक प्लेटो ने जहाँ काव्य और नाटक को हेय बताकर उसकी निंदा की वहीं अरस्तु ने अपने सिद्धांतों (अनुकरण , विरेचन) के जरिए काव्य और नाटक को पुनः जीवित कर उन्हें साहित्यिक जगत में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करवाया। उन्होंने प्लेटो के

अदर्शवाद और उपयोगितावाद की आलोचन करते हुए कला का पक्ष लिया और कला के विभिन्न रूपों (काव्य) को प्रतिष्ठित किया।

3.9. बोध प्रश्न

1) अनुकरण के बारे में प्लेटो तथा अरस्तु की मान्यताओं का अंतर स्पष्ट कीजिए।
2) अरस्तु के अनुकरण सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए ?
3) विरेचन से अरस्तु का क्या तात्पर्य है ? विरेचन से संबन्धित विभिन्न व्याख्यानों पर प्रकाश डालिए ?
4) अरस्तु के जीवन परिचाय एवं साहित्यिक परिचय के बारे में लिखिए ?
5) प्लेटो तथा अरस्तु की विचारधारा में क्या अंतर है ? अरस्तु ने किस प्रकार से प्लेटो के आक्षेपों का समाधान करते हैं स्पष्ट कीजिए ?

3.10. संदर्भ ग्रंथ

1) अरस्तू का काव्यशास्त्र – डॉ. नगेन्द्र
2) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. सावित्री सिन्हा
3) पाश्चात्य काव्यशास्त्र – डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा

डॉ. एस. आनंद

4. लोंजाइनस का उदात्त तत्व

4.0. उद्देश्य:-

इस इकाई के अंतर्गत आप पाश्चात्य काव्य के चिंतक लोंजाइनस के उदात्त तत्व के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। इसका अध्ययन करने से आप को लोंजाइनस के संक्षिप्त परिचय, साहित्यिक परिचय एवं इनके काव्य चिंतन के बारे में जानकारी प्राप्त होगी। इन विषयों के अलावा आप लोंजाइनस के उदात्त की अवधारणा, उसके स्रोतों के विभिन्न आयामों के बारे में भी समझ पाएंगे।

इकाई की रूपरेखा

4.1. प्रस्तावना

4.2. लोंजाइनस का परिचय

4.3. लोंजाइनस का साहित्यिक परिचय

4.4. लोंजाइनस का उदात्त तत्व

4.4.1. अंतरंग तत्व

विषय की गरिमा

भावेश की तीव्रता

4.4.2. बहिरंग तत्व

अलंकारों की समुचित योजना

भाषा की उत्कृष्टता

गरिमामय रचना विधान

4.4.3. विरोधी तत्व

शब्दाडंबर

भावाडंबर

अनुचित विस्तार

कटु भाषा

4.5. कल्पना और बिम्ब

4.6. स्वछंदतावाद और लोंजाइनस

4.7. सारांश

4.8. बोध प्रश्न

4.9. संदर्भ ग्रंथ

4.1. प्रस्तावना :-

काव्य के लिए जिस तरह भारतीय काव्य शास्त्र में रस सिद्धान्त की संकल्पना की गई है ठीक उसी तरह पाश्चात्य काव्य शास्त्र में उदात्त की संकल्पना की गई है। जिसके चिंतक लोंजाइनस है। लोंजाइनस का यह मानना है कि उदात्त तत्व ही काव्य का प्राणत्व है। उदात्त भाव, उदात्त विचार एवं उदात्त शैली के बिना कोई रचना महान नहीं हो सकती। अर्थात् लोंजाइनस काव्यभिव्यंजना की विशिष्टता एवं उत्कर्ष का कारण उदात्त को मानते हैं। लोंजाइनस के समय अधिकतर कवि चमत्कार के मोह में पड़कर आडंबर के पीछे पड़े थे। लोंजाइनस ने इसी आडंबर का विरोध कर कवि के उदात्त व्यक्तित्व से लेकर भाव विचर, अलंकार और भाषा के अन्य पहलुओं तक उदात्त के स्वरूप की चर्चा की।

उदात्त की अवधारणा इस बात से समझ सकते हैं कि लोंजाइनस ने अपने चिंतन व सिद्धान्त से आधुनिक साहित्य आलोचना को एक नई दिशा दी। लोंजाइनस के पूर्व काव्य व साहित्य का उद्देश्य शिक्षा देना, आनंद देना और विश्वास दिलाना माना जाता था। जबकि लोंजाइनस ने अपने नये विचारों को काव्य जगत् के सामने रखकर काव्य का उद्देश्य केवल आनंद और उल्लास ही बताया। जिसे भारतीय काव्यशास्त्र में रस कहा गया है।

उदात्त शैली की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि विभिन्न प्रकार से किसी घटना के बारे में या किसी व्यक्तित्व के रोमांटिक, आवेशपूर्ण तथा भयंकर पक्ष की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है। इसी सच्चे उदात्त के स्पर्श मात्र से मनुष्य की आत्मा उत्कर्ष को प्राप्त कर सकती है। इस अवधारणा ने न केवल पाश्चात्य

चिंतकों को ही प्रभावित किया है अपितु आधुनिक हिंदी आलोचकों को भी प्रेरित किया है। डॉ. नगेन्द्र एवं नैमिचन्द्र जैन पुस्तकों में भी काव्य के उदात्त तत्व का विश्लेषण-वर्णन मिलता है। लोंजाइनस की विशद दृष्टि ने काव्य को व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक दोनों पक्षों के स्तर पर विश्लेषित किया और इसी दृष्टि के आधार पर उन्होंने उदात्त तत्त्व के स्रोतों को तीन भागों में विभाजित किया है – अंतरंग तत्व , बहिरंग तत्व और विरोधी तत्व। अतः लोंजाइनस अपने इस उदात्त तत्व के आधार पर काव्य के लिए एक नए स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं और काव्य की विषय वस्तु के लिए इसे उपयोगी आधार मानते हैं।

4.2. लोंजाइनस का परिचय :-

लोंजाइनस के विषय में विद्वानों के कई मतभेद है। कुछ विद्वान लोंजाइनस को ईसा की पहली सदी का मानते हैं तो कुछ विद्वान इन्हें तीसरी सदी का मानते हैं। प्राचीनतम पाण्डुलिपियों के अनुसार लोंजाइनस के तीन नाम उपलब्ध होते हैं। वे है - दिओन्यूसिया, लोंजाइनस, दिओन्यूसिया लोंजाइनस। विद्वानों में लोंजाइनस के इन नामों को लेकर भी काफी विवाद देखने को मिलता है। कुछ विद्वान ये तीनों नाम एक ही व्यक्ति के मानते है तो कुछ तीनों अलग-अलग व्यक्ति मानते हैं। स्टॉक जेम्स इन्हें पालम्यूरा का लोंजाइनस मानते हैं जो सीरिया की रानी जेनोबिया का मंत्री था। जिसने ईसा के तीसरी सदी में 'आर्ट ऑफ रेहटारिक्स' नामक ग्रंथ लिखा था। स्टॉक जेम्स की इस बात से अँग्रेजी के अनुवादक रोबट्र्स और एतकिंस सहमत नहीं है। 'द मेकिंग ऑफ लिटरेचर' के लेखक स्टॉक जेम्स इन्हें पालम्यूरा का वीर' मानते हैं तो वाउचर प्लूटार्क की रचना बताते हैं। कुछ विचारक इसे सिसली के कैलिसस की रचना मानते हैं। इन तमाम मतभेदों के बावजूद भी अधिकांश विचारक इस मत से सहमत हैं कि 'पेरी इप्सुस-उदात्त तत्व 'ऑन द सब्लाइस' के लेखक यूनानी लोंजाइनस ही है और वे पहली और तीसरी सदी के बीच लिखी गयी रचना है।

4.3. लोंजाइनस का साहित्यिक परिचय :-

लोंजाइनस के विषय में प्रामाणिक जानकारी का अभाव है। लोंजाइनस जन्म से यूनानी थे। उनका समय ईसा की प्रथम या तृतीय शताब्दी माना जाता है। लोंजाइनस के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पेरी इप्सुस' जिसका प्रकाशन 1554 में रोबेरतेल्लो ने किया जो बारह सौ साल तक अज्ञात थी। 1636 में इस ग्रंथ का पहला

संस्करण लैंगवेन ने किया था और पहला अँग्रेजी अनुवाद 1662 में जॉन हॉल ने 'हाइट ऑफ इलोक्वेंस' (वाणी की पराकाष्ठा) के नाम किया । 1674 में बोइलो द्वारा इसका फ्रांसीसी अनुवाद किया गया । इस अनुवाद के बाद ही 'इप्सुस' शब्द के अर्थ को लेकर विद्वानों में जो मतभेद थे वे समाप्त हुए। बोइलो ने अपने अनुवाद में 'इप्सुस' के लिए 'सब्लाइम' (उदात्त) शब्द को अपनाया । तब से 'इप्सुस' के लिए 'सब्लाइम' (उदात्त) शब्द प्रचलित हुआ । 1680 में 'पेरी इप्सुस' का दूसरा अनुवाद जॉन पैल्टेंसी ने 'लाफ्टीनेस ऑर एलीगेंसी ऑफ स्पीच' (भाषा का लालित्य या उत्तुंगता) के नाम से किया। 1899 में एक लंबे समय के बाद जब रीज़ रॉबर्टस ने अपने अनुसंधान के साथ 'लांगिनुस ऑन द सब्लाइम' में जो अनुवाद प्रस्तुत किया वह सबसे अधिक मान्य हुआ । इसी के अनुरूप हिन्दी में 'काव्य में उदात्त तत्व' डॉ. नगेन्द्र एवं नैमिचंद जैन की पुस्तकों में भी मिलती है। किन्तु 1927 में हैमिल्टन फाइफ इसका एक और अनुवाद प्रस्तुत किया जो अनेक कारणों से अधिक ग्राह्य पाकर डॉ निर्मल जैन ने भारत भूषण अग्रवाल की सहायता से 'उदात्त के विष्य में' नाम से अनुवाद किया।

पेरि इप्सुस का शाब्दिक अर्थ है 'उदात्त के विषय' में । उदात्त से अभिप्राय श्रेष्ठता या ऊँचाई से है । यह मूलतः भाषणशास्त्र का ग्रंथ है । भाषणशास्त्र भाषा संबंधी शिक्षा का विज्ञान है जिसका उद्देश्य भाषण कला से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध अथवा प्रभावित करना था । यूनान प्रायद्वीपों का समूह था । अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों के कारण वे एक राष्ट्र के रूप में विकसित न हो सके । वहाँ छोटे-छोटे नगर राज्य विकसित हुए । वहाँ उन्होंने प्राचीन गणतंत्रों की स्थापना की । उनमें एथेंस और स्पार्टा सर्वाधिक प्रमुख थे। ये गणतंत्र आपसी प्रतिस्पर्धावश अक्सर युद्ध करते थे जैसे भारत के देशी राजे-रजवाड़े । ऐसी गणतांत्रिक व्यवस्था में जनप्रतिनिधियों को तर्क संगत प्रभावी तरीके से अपनी बात से नागरिकों को वशीभूत करना होता था । अतः यूनान में भाषण कला का स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ ।

पेरि इप्सुस का विषय भाषण-कला है । क्योंकि वक्ता और कवि दोनों का उद्देश्य अपने मंतव्य को प्रभावी ढंग से संप्रेषित करना होता है । दोनों श्रोता, पाठक को सम्मोहित करना चाहते हैं । इसीलिए यूनान में भाषण कला और काव्य कला का विकास प्रायः एक साथ हुआ । यह ग्रंथ संपूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है । उपलब्ध ग्रंथ साठ पृष्ठों की लघु कृति है । इसमें चौयालीस छोटे-बड़े आकार हैं । उनमें लघुतम दो-तीन और

अधिकतम सात-आठ पृष्ठों के हैं । इस ग्रंथ में कई भाग लुप्त है कई खंडित है । अपूर्ण एवं खंडित होने के बावजूद एलेन टेट ने इसे साहित्यलोचन की प्रथम पुस्तक तथा विंसाट एवं ब्रुक्स ने एक असाधारण लेख कहा है । जो कुछ भी उपलब्ध है उनमे भाषण-कला, गद्य, कविता, शैली आदि पर अनेक विचारणीय सिद्धांत है और उनके पोषक प्रमाण प्रायः अकठ्य है । कृति के प्रथम भाग में तत्कालीन रचनाकारों के साहित्यिक दोषों का विवेचन है जो वागस्फीति, शब्दाडंबर, निष्प्राण वाक्य विन्यास, ढीली शैली और अलंकारों के निष्प्रयोजन को श्रेष्ठ साहित्य मानकर रच रहे थे । दूसरे भाग में श्रेष्ठ भाषा-शैली, उपयुक्त अलंकार योजना भावों की व्यापकता और गहराई, शब्द-चयन में कवि प्रतिभा की भूमिका आदि के संदर्भ में सर्वकालिक नियमों का निदर्शन है जिसकी चर्चा अरस्तु के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पेरि पोइतिकेस' में यदा-कद सुनाई देती है । इस योजना में आलोचना के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तत्वों की उद्भावना भी दिखाई देती है जो आज भी स्वीकृत है और जिसका विकास परवर्ती दौर की आलोचना खासकर औद्योगिक क्रांति के बाद रोमैंटिक काव्याधरा एवं साहित्यलोचन में दिखाई देता है।

वास्तव में 'पेरी इप्सुस' पत्र के रूप में पोस्तुमिउस तेरेन्तियानुस नामक एक रोमी युवक को संबोधित है, जो लोंजाइनस का मित्र या शिष्य रहा होगा। 16 वीं सदी के पुनर्जागरण युग में जब पहली बार 'पेरी इप्सुस' कृति सामने आई तब यह मत प्रचलित हुआ कि लोंजाइनस शास्त्रवाद से प्रभावित, तीसरी सदी में पालचीरा की महारानी ज़ेनोविया के अत्यंत विश्वासपात्र यूनानी मंत्री थे। जिन्हें बाद में महारानी के लिए मृत्यु का वरण करना पडा़ । 1928 में स्काट-जेम्स ने इस मत को पुन:स्थापित करते हुए उन्हें 'पहला स्वच्छंदतावादी आलोचक' कहा । पश्चिम में लोंजाइनस से पूर्व काव्यशास्त्रीय चिंतन की एक सुदृढ़ परम्परा का विकास प्लेटो तथा अरस्तू से ही माना जाता है। लोंजाइनस ने इन दोनों की अवधारणाओं को आत्मसात् करके एक नए काव्यशास्त्रीय विचार प्रस्तुत किए। जहाँ प्लेटो के लिए साहित्य 'उत्तेजक', अरस्तू के लिए 'विरेचक' वहीं लोंजाइनस के लिए 'उदात्त' था। उनकी यह अवधारणा इतनी युगांतकारी सिध्द हुई कि आगे चलकर उसे शास्त्रवाद, स्वच्छंदतावाद, आधुनिकतावाद और यथार्थवाद से जोड़कर देखा गया।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य की ऊँचाई , उत्तुंगता या लालित्य को लेकर जिस तरह विद्वानों में अनेक मतभेद रहे है उसी तरह 'सब्लाइम' (उदात्त) को लेकर काफी मतभेद है । जैसे ऊँचाई और उत्तुंगता का

संबंध कई विद्वानों ने शास्त्रवादी धारणाओं से मानते हैं तो उदात्त का संबंध स्वच्छंदतवादी भावनाओं से जोड़कर देखते हैं। लोंजाइनस के अतीति प्रेम को शास्त्रवाद का प्रमाण मानते हैं तो प्राकृतिक आदर्श को स्वच्छंदतावाद का प्रमाण मानते हैं। लोंजाइनस शास्त्रवाद से तो मुक्त हो चुके हैं परंतु स्वच्छंदतावाद की गूँज अब भी सुनायी देती है। ऐलेन टेट ने लोंजाइनस स्वच्छंदतवादी रूप को मिटाकर एक नयी समीक्षा से जोड़ने का प्रयास करते हैं। उनका तर्क है कि लोंजाइनस की सिंथेसिस और सामंजस्य संबंधी धारणाएँ नयी समीक्षा के स्ट्रक्चर (संरचना) की धारणा में आसानी से बदली जा सकती है। लोंजाइनस ने 'भाषा के उदात्त' के माध्यम से परोक्ष रूप में वस्तुनिष्ठ की ओर कदम बढ़ाया है जिसकी गुंजाइश न प्लेटो के 'दैवी विक्षेप ' में थी और न अरस्तू के 'संरचनात्मक तत्व' में। किंतु इमैनुएल कांट ने उदात्त को एक नयी दृष्टि से देखते हैं। उनके अनुसार कला में उदात्त संबंधी धारणा प्रकृति की अनुरूपता पर निर्भर होती है। यानि प्राकृतिक सौंदर्य के साथ उद्देश्यपूर्वक जुड़ी रहती है क्योंकि यह हममें संतोष का भाव जागती है, जबकि उदात्त का भाव हमारे निर्णय के संदर्भ में सोद्देश्यता की सीमा से परे चला जाता है। इन्हीं मतभेदों के चलते 'सब्लाइम' को अधिक मान्यता प्राप्त हुई है।

4.4. लोंजाइनस का उदात्ततत्व

लोंजाइनस पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण आलोचक थे जिन्होंने पूर्ववर्ती परम्पराओं को आत्मसात करते हुए एक नयी आलोचना पद्धति का विकास करते हैं। जहाँ प्लेटो के लिए साहित्य 'उत्तेजक' था वहीं अरस्तू के लिए 'विरेचक' जबकि लोंजाइनस के लिए साहित्य उदात्त था। आगे चलकर इसी उदात्त की महत्ता को विद्वानों ने स्वच्छंदतावाद, आधुनिकतवाद एवं यथार्थवाद से जोड़ा हैं। लोंजाइनस ने अपने ग्रंथ 'पेरी इप्सुस' में उत्कृष्ट काव्य की कसौटी उदात्त तत्व को बताते हैं। उनका मानना है कि उदात्त तत्व ही काव्य का प्राणतत्व है। उनका यह भी मानना है कि उदात्त भाव, उदात्त विचार एवं उदात्त शैली के बिना कोई रचना महान नहीं हो सकती। वे उदात्ततत्व को कवि के व्यक्तित्व के साथ जोड़कर देखते हैं। वे मानते हैं कि उदात्त व्यक्तित्व ही उदात्त कृति की रचना कर सकता है। जिस कवि का जीवन तुच्छ विचारों और संकीर्ण स्वार्थों से ग्रस्त होता है वह महान कृति की रचना नहीं कर सकता है। उदात्त को परिभाषित करते हुए लोंजाइनस अपने ग्रंथ 'पेरी इप्सुस' में कहते हैं कि सभी महान कवि, लेखक, दार्शनिक, विचारक सामान्य मृत्युलोक के आम

प्राणी नहीं होते। उदात्त एक ऐसा गुण है जो उन्हें सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर विस्तृत मानस तक लेजाता है। उनकी मान्यता है कि श्रेष्ठ साहित्य का लक्ष्य पाठक के अंदर हर्षातिरेक उत्पन्न करना है जिससे पाठक पार्थिव जगत से ऊपर उठकर आत्मविस्मृति की अवस्था में पहुँच जाता है। लेखक की शैली में यह गुण उसकी प्रतिभा और कलात्मक संयोजन से आता है। लोंजाइनस की मान्यता है कि श्रेष्ठ कला का सृजनकर्त्ता प्रतिभावन एवं कल्पनाशील व्यक्ति होता है जो अपनी कृति में ऐसी प्रभावोत्पादकता उत्पन्न कर देता है जिससे पाठक अन्नदातिरेक की मधुमती भूमिका में पहुँच जाता है। कवि का काम न तो वितंडावादी प्रबोधक की है और न शिक्षा-शास्त्रियों जैसी। इसके विपरीत कवि सिर्फ शब्द साधक नहीं होता बल्कि अपनी प्रतिभा और कल्पना तथा अभिव्यक्ति की सम्मोहन शक्ति ही उसे महान बनती है।

लोंजाइनस रचनाकार के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि रचनाकार के व्यक्तित्व में 'प्रतिभा' और 'अभ्यास' दोनों तत्वों का होना जरूरी हैं। उनका मानना है कि किसी भी कवि या रचनाकार में उदात्तता जन्मजात नहीं होती है। उसे अभ्यास के द्वारा ही अर्जित किया जा सकता है। साथ ही लोंजाइनस यह भी मानते हैं कि केवल अलंकार शास्त्र का ज्ञान होना उदात्तता के लिए पर्याप्त नहीं होता है। वे उच्च कोटी के व्यक्तित्व को उदात्तता के लिए अनिवार्य मानते हैं। वे उदात्तता के लिए निर्देषता को भी जरूरी नहीं समझते हैं। उनका विचार है कि कोई उदात्त कृति सर्वथा निर्देष नहीं होती। बल्कि निर्दोष कृति में क्षुद्रता की संभावना अधिक होती है। उदात्तता के लिए कृति का ऐश्वर्या सम्पन्न, गरिमामयी और महान होना जरूरी है। अतः हम यह कहसकते हैं कि निःस्वार्थ, उदार एवं उच्च कोटी का व्यक्ति ही उत्कृष्ट रचनाकार हो सकता है और उत्कृष्ट कृति ऐश्वर्य सम्पन्न, गरिमामयी और महान होती है।

इन तमाम विवेचनाओं के अतिरिक्त 'पेरी इप्सुस' का प्रमुख प्रतिपाद्य शैली ही है। इस बात की पुष्टि करते हुए डॉ. नगेन्द्र अपने ग्रन्थ 'काव्य में उदात्त तत्व' में स्पष्ट करते हैं – इस में कला की प्रेरक भावनाओं और धारणाओं का विश्लेषण नहीं है। बल्कि शैली के आधार तत्वों का विवचन प्रधान है। वैसे लोंजाइनस ने उदात्त के विवेचन में काव्य की विषय वस्तु, विचार और भाव को भी समाविष्ट किया है।

लोंजाइनस के उदात्त तत्व के स्रोतों को तीन भागों में विभाजित किया गया है।

1) अंतरंग तत्व
2) बहिरंग तत्व
3) विरोधी तत्व

4.4.1. अंतरंग तत्व

जो बातें काव्य के आंतरिक पक्ष को उदात्तता प्रदान करती हैं, उन्हें उदात्त के अंतरंग तत्व कहा जाता है। यों तो लोंजाइनस काव्य के बाह्य पक्ष के ही आचार्य है, किंतु उन्होंने काव्य के विषय की उदात्तता पर भी जोर दिया है। इसके अंतर्गत दो बातें आती हैं –1) विषय की गरिमा और 2) भावेश की तीव्रता

विषय की गरिमा

लोंजाइनस के मतानुसार काव्य का विषय गरिमापूर्ण होना चाहिए और उसमें महान अवधारणाओं को वहन करने की क्षमता होनी चाहिए। क्षुद्र विचारों और उद्देश्यों वाला व्यक्ति कभी कोई महान रचना नहीं दे सकता। महान सूक्तियाँ सदा महान आत्माओं की ही प्रतिध्वनि होती है। कहना न होगा कि यहाँ लोंजाइनस अप्रत्यक्ष रूप से कवि के व्यक्तित्व की गरिमा को रेखांकित कर रहे हैं। वे आगे कहते हैं कि काव्य का विषय विस्तृत और वैविध्यपूर्ण होना चाहिए जो श्रोता या पाठक को तत्काल प्रभावित कर सके और जिसका प्रभाव इतना गहरा हो कि कभी मिटाये ना मिटे।

लोंजाइनस काव्य का उद्देश्य प्रत्यक्ष उपदेश देना नहीं है अपितु ऐसा गहरा प्रभाव उत्पन्न करना है जो संपूर्ण व्यक्तित्व को उदात्त बनाने में समर्थ हो। यूनानी महाकाव्य इलियट और ओड़ीसी तथा भारतीय महाकाव्य रामायण और महाभारत महान विचारों की क्षमता के कारण ही शाश्वत बन पड़े हैं।

लोंजाइनस मानते हैं कि कवि को महान कृतियों की रचना की प्रेरणा प्रकृति की विराटता से प्राप्त होती है। हमारे महाकाव्यों में प्रकृति के इस विराट रूप के दर्शन प्रायः सर्वत्र देखने को मिलते हैं। जैसे कालिदास के कुमार संभव का हिमालय वर्णन और कामायनी का जल प्लावन प्रकृति के विराट रूप के उत्कृष्ट उदाहरण है।

लोंजाइनस का विचार है कि मानव जीवन की सामान्य स्थिति में जो कुछ सत्य है वही उदात्त की भूमिका में भी सत्य है। घृणा के परिवेश में जीवन कभी भी महान नहीं बन सकता। एक मनीषी या विचारक रंगमंची प्रतिष्ठा, प्रभुता, धन संपदा आदि के लोभ में परम सुख का अनुभव नहीं कर सकता संतोष भले ही कर ले। इन सब का वर्णन यद्यपि उत्कर्ष युक्त माना जाता है, परंतु वे उदारमन साधु पुरुष जो इन सब को पाकर भी वितृष्णा से जीवन व्यतीत करते हैं। प्रथम वर्गीय व्यक्तियों की तुलना में अधिक प्रशंसा होती है। इसी प्रकार साहित्यिक विषयों के संबंध में विचारणीय है कि साहित्यिक शैलियों में कल्पित उदाहरणों से बाह्यरोपण नहीं होता क्योंकि इस प्रकार का वृथा आडंबर युक्त आरोपण विश्लेषण करने पर विचारहीन सिद्ध होता है। सच तो यह है, यदि स्फूर्ति भव्य प्रेरणा से वास्तविक उदात्त का स्पर्ष हो गया तो आत्मा सहज ही उत्कर्ष का अनुभव करने लगती है। सामान्यीकृत हृदय सहज ही उल्लास और आनंद से प्रफुल्लित हो उठता है। सभी को आनंद देना ही रचना का उद्देश्य होता है। अतः उदात्त शैली सिद्धांत में मन का ऊर्जस्वित होना महत्वपूर्ण है क्योंकि उदात्तता महान आत्मा सहज रूप में ही प्रतिबिंबित होती है।

भावेश की तीव्रता

लोंजाइनस उदात्त काव्य के लिए भाव की उत्कृष्टता को भी आवश्यक मानते हैं। खासकर उत्साह की उत्कृष्टता महाकाव्य की उदात्तता से ज्यादा अनुकूल होती है। इसलिए संसार की महानतम कृतियों में वीर रस की उद्दाम अभिव्यक्ति प्रायः समान रूप से देखने को मिलती है। जब कोई पात्र हिमालय की ऊँचाइयों और समुद्र की उत्ताल तरंगों को चुनौती देता है तो उत्साह का ऐसा आवेग फूटता है कि पाठक का रोम-रोम उल्लासित हो उठता है। कहने का तात्पर्य यहा है कि लोंजाइनस शोक, भय, करुणा आदि मनोभावों को उदात्त मनोभाव नहीं मानते। उनका विचार है कि उत्साह और वीरता जैसे भव्य भावों से आत्मा का विस्तार होता है तो क्षुद्र मनोभावों से उसका आकुंचन। इस संदर्भ में लोंजाइनस का कथन है कि 'मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जो आवेग, उन्माद, उत्साह के साथ फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा उदात्त आता है, वह अन्यत्र दुर्बल है'। इसके अलावा लोंजाइनस ने भव्य आवे के अंतर्गत मन की ऊर्जा, उल्लास, आदर, विस्मय को आवश्यक गुणों के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार आवेग के दो रूप हैं –

1)भव्य या सुख आत्मा आवेग - इस के अंतर्गत रीति, ओज, शौर्य, हास्य का प्रयोग होता है।

2) दुखात्मा आवेग - इसके अंतर्गत भव्य, करुणा, निराशा का प्रयोग होता है। अतः उदात्त के लिए भव्य भावों का चित्रण आवश्यक है।

लोंजाइनस अनुसार संक्षेप में आवेगों को चार वर्गों में प्रस्तुत किया जा सकता है।

1) ऊर्जास्वित अनुभूति

इस आवेग वर्ग के अंतर्गत वे ही भाव आते हैं, जिनसे आत्म-पक्ष का उत्कर्ष होता है। आत्मा के अपकर्ष के कारण धैर्य, भय, शोक आदि हीनतर आवेग होते हैं। उत्कर्ष विधायक आवेगों से चित्र दीप्ति और चित्त स्पूर्ति के साथ-साथ सहज स्फूर्ति संभव है तथा अपकर्ष विधायक आवेगों से चित्त का संकोच होता है।

2) उल्लासानंद

इस आवेग वर्ग की बहुत कुछ सामर्थ्य प्रथम के अंतर्गत ही आ जाती है। संक्षेप में उत्कर्ष विधायक उद्दात्त वेग नहीं है जो देश-काल निरपेक्ष होकर सर्वत्र और सर्वदा सब व्यक्तियों को आनंद प्रदान कर सके।

3) आदर और विस्मय की भाव भूमि

उपयोगिता से संबंध भाव से है, जो परिस्थित विषय में व्यक्ति और वस्तु से संबंधित रहते हैं। मनुष्य के लिए अधिकांश में सामान्य ही होते हैं। जिन भावों में विस्मय विमुग्ध कर देने वाला अंश रहता है। अर्थात् जो व्यक्ति या पदार्थ विमुग्धकारी होते हैं, अथवा यों कहें कि जहाँ चमत्कार है वहाँ नमस्कार है तो ऐसी परिस्थिति या परिवेश में ही मनुष्य में गरिमा एवं विस्मय युक्त आदर भावना को जन्म देता है।

4) चेतनाभिभूत करने का सामर्थ्य

उदात्त उत्कृष्टता इसी में है कि उसमें पाठक या श्रोता की संपूर्ण चेतना को विमुग्ध या अभिभूत करने का सामर्थ्य हो। किंतु यह भाव स्थितियाँ पृथक – पृथक विमुग्धकारी प्रभाव स्थापित नहीं कर पाती, प्रयुक्त उर्जास्वित आवेग, उल्लासानंद, विस्मय भाव के संवेग प्रभाव से ही संपूर्ण चेतना विमुग्ध हो जाती है।

4.4.2. बहिरंग तत्व

बहिरंग तत्व को बाह्य तत्व भी कहा जाता है। इन तत्वों में वे बातें आती है, जिनका संबंध भाषा और काव्य कला से है। लोंजाइनस कवि की प्रतिभा को जन्मजात मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि कवि को महान कृतियों के अध्ययन के द्वारा अपनी कला को विकसित करना चाहिए। वे उदात्त के तीन बहिरंग तत्व मानते हैं – 1) अलंकारों की समुचित योजना 2) भाषा की उत्कृष्टता 3) गरिमामय रचना विधान

अलंकारों की समुचित योजना

लोंजाइनस ने उदात्त अभिव्यक्ति और उत्कृष्टता के लिए अलंकारों को प्रमुख तत्व माना है। अलंकारों का प्रयोग विश्व साहित्य में अनादि काल से होता रहा है परंतु लोंजाइनस के समय में अलंकारों को मात्र चमत्कार उत्पन्न करने का साधन माना जाने लगे था। उनके प्रयोग में कृत्रिमता आ गयी थी। लोंजाइनस ने अलंकारों को मनोवैज्ञानिकता के साथ जोड़ा। उन्होंने जोर देकर कहा कि अलंकारों का प्रयोग प्रसंग, स्थान, स्थिति, पात्र आदि को दृष्टि में रखकर होना चाहिए। उनका मानना था कि अलंकार तभी सफल होता है जब वे कथ्य को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। उनका यह भी मानना है कि यदि अलंकारों का उचित रीति से प्रयोग किया जाए तो उसमें उदात्त की सिद्धि में सहायता मिलती है। अलंकार जहाँ उदात्त के उत्कर्ष में सहायक होते हैं वही वे स्वयं भी उससे बल प्राप्त करते हैं। इसलिए उन्होंने उदात्त को साध्य और अलंकारों को साधन माना है।

उन्होंने उदात्त शैली के पोषण के लिए बाहर अलंकारों को गिनाया है। यथा –

1) विस्ताण

इस अलंकार में विवरण की प्रधानता रहती है और विवरण में समस्त अंगों का सम्यक विवेचन संभव है। विषय विस्तार से मुक्ति भी सामर्थ्य बनती है और जन धारणा विशेष मुक्तियों द्वारा प्रस्तुत होती है तो उदात्त शैली का सृजन संबंधी सम्यक प्रभाव बढ़ जाता है।

2) शपथोक्ति

कथन में शपथ का प्रयोग ओज और विश्वास की सृष्टि करता है। इस अलंकार का प्रयोग सम्बोधन रूप में ही होता है।

3) प्रश्नालंकार

इसमें वक्ता ही प्रश्न कर्ता होता है और स्वयं ही उसका उत्तर देने वाला। ऐसे कथन में उदात्त भावना का विस्तार होता है। प्रश्न रूप में शंका और उत्तर रूप में समाधान होने से भावावेग स्वाभाविक बन पड़ता है।

4) विपर्यय और व्यक्तिक्रम

इस अलंकार में शब्दों और विचारों के सहज क्रम में उलट फेर कर दिया जाता है, इससे कथ्य और अधिक प्रभावशाली हो उठता है।

5) प्रत्यक्षीकरण

इस अलंकार के माध्यम से संपूर्ण घटना परिस्थिति को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जैसे घटना प्रत्यक्षतः संपन्न हो रही हो। इससे प्रतिपाद्य जीवंत हो उठता है।

6) संचयन

इसमें अनेक तथ्य संगठित होकर आवेग को वेग पूर्वक अभिव्यक्त प्रदान करते हैं।

7) सार

इस अलंकार के प्रयोग से वर्ण विषय निरंतर उत्कर्ष को प्राप्त होता रहता है।

8) रूप परिवर्तन

इसके संबंध में लोंजाइनस ने विस्तार से लिखा है। इस अलंकार के प्रयोग द्वारा वचन, कारक, लिंग आदि के परिवर्तन से प्रतिपादन में वैविध्य और जीवंतता आ जाती है।

9) पर्यायोक्ति

इस अलंकार में बात को चमत्कारी ढंग से कहा जाता है इसकी कथन प्रकारांतरण ही इसका प्राण है ।

उक्त अलंकारों की अतिरिक्त रूपक और अतिशयोक्ति भी उदात्त शैली में सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं यदि उनके प्रयोग में संयम और विवेक से काम लिया जाए तो।

भाषा की उत्कृष्टता

भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है । इसलिए लोंजाइनस भाषा की उत्कृष्टता को उदात्त के लिए महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं और वे काव्य की उदात्तता के लिए उदात्त भाषा के प्रयोग पर बल देते हैं । उदात्त भाषा का आधार शब्द चयन है । इस के अलावा लोंजाइनस का यह मानना है कि किसी भी विवेचन में विचार और पद विन्यास दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं । क्योंकि पद विन्यास और विचार परस्पर आश्रित रहकर ही विकसित होते हैं । जिस प्रकार विचार भाषा के बिना व्यक्त नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार विचार हीन भाषा भी प्रभावहीन हो जाती है । इस संदर्भ में उनका यह मत है कि सुंदर शब्द वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं । वह शब्द और वस्तु के पूर्ण सामंजस्य को ही पूर्ण अभिव्यंजना मानते हैं। लोंजाइनस के इस तत्व में भावानूरूप वर्ण संयोजन तथा संप्रेक्षणक्षम पर्ययों का चयन आते हैं । इसके अतिरिक्त लोंजाइनस ने पात्रानुकूल भाषा पर भी जोर देते हैं । उनका मानना है कि उदात्तता के आग्रह से निम्नतर कथ्य के लिए उदात्त भाषा का प्रयोग उचित नहीं है । निम्न पात्रों के संवादों में तो इस बात का ध्यान रखना और भी आवश्यक है।

गरिमामय रचना विधान

उदात्त की बहिरंग तत्वों में गरिमामय रचना विधान का महत्वपूर्ण स्थान है। क्षुद्र रचना विधान के द्वारा उदात्त भाव या विचारों को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । लोंजाइनस उदात्त रचना विधान के लिए शब्दों, विचारों तथा अलंकारों के बीच उचित सामंजस्य या संगति का होना आवश्यक मानते हैं । उन्होंने संरचना की तुलना शरीर से करते हुए कहा है कि जिस प्रकार सौंदर्य शरीर के विभिन्न अवयवों में नहीं, उनके

सामंजस्य में निहित होती है। उसी तरह सामंजस्य के बिना काव्य के विभिन्न अंगों का भी कोई अर्थ नहीं होता। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जिस प्रकार बांसुरी की तान और सारंगी का स्वर परस्पर समवाय द्वारा श्रोताओं के ऊपर जादू-सा कर देता है, उसी प्रकार भाषा का सामंजस्य मनुष्य में दबी श्रवणेंद्रियों सहित, उसकी आत्मा को भी प्रभावित करती है। उसी प्रकार सामंजस्य द्वारा रचना की अभिव्यक्ति में विशिष्टता और उत्कृष्टता का समावेश होता है। फलतः रचना श्रोता को पूर्णतः प्रभावित करने में समर्थ होती है। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि सामंजस्य के बिना काव्य के विभिन्न अंगों का भी कोई अर्थ नहीं होता। शब्द, अलंकार आदि उपकरणों का उचित संयोजन ही रचनाकार की कला को संप्रेषणक्षम बनाता है।

4.4.3. उदात्त के विरोधी तत्व

लोंजाइनस ने उदात्त के सहायक तत्वों के साथ उसके विरोधी तत्वों का भी विवेचन किया है। जो उदात्त की रक्षा के लिए आवश्यक है। जैसे 1) शब्दाडंबर 2) भावाडंबर 3) अनुचित विस्तार 4) कटु भाषा आदि।

शब्दाडंबर

लोंजाइनस में शब्दाडंबर को उदात्त तत्व का सबसे बड़ा विरोधी तत्व बताया है। जहाँ कवि के पास कोई उदात्त विषय नहीं होता है वहाँ वह भाषिक चमत्कार का सहारा लेता है और ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो कथ्य की उपेक्षा कर केवल कला की कृत्रिमता का पोषण करते हैं। ऐसे संदर्भ में काव्य के अंतर्गत उदात्त का लोप होजता है और वह काव्य महान काव्य या उत्कृष्ट काव्य की कोटी में नहीं आता है।

भावाडंबर

भावाडंबर आवेग विषयक दोष है। लोंजाइनस के अनुसार यह वह दोष है, जब रचनाकार आवश्यकता के प्रतिकूल आवेगों का प्रदर्शन करता है। जब कभी सहज मनोभावों को अभिव्यक्त करने के बजाय आरोपित और अतिरंजित मनोवेगों का चित्रण करता है तब काव्य के उदात्त तत्व को ठेस पहुँचती है। जैसे वीर रस के संदर्भ में निर्बल शत्रु का वर्णन किया जाए तो नायक की वीरता उत्साहा के मनोभाव को पुष्ट नहीं कर पायेगी और सारा रसमय प्रसंग आडंबर बन कर रह जायेगा।

अनुचित विस्तार

किसी भी सामान्य घटना या प्रसंग का विस्तृत वर्णन भी उदात्त विरोधी माना गया है। कवि को यह समझ होनी चाहिए कि वह किसी घटना को कितना विस्तार प्रदान करे। यदि प्रासंगिक कथा मुख्य कथा से अधिक विस्तृत हो जाए तो यह उदात्त तत्व को क्षति पहुँचायेगी।

कटु भाषा

किसी भी काव्य रचना के तहत कटु भाषा का प्रयोग करना उदात्त विरोधी तत्व माना गया है। उदात्त तत्व की रक्षा के लिए कोमलकांत पदावली का प्रयोग करना अति आवश्यक है।

4.5. कल्पना और बिम्ब

उदात्त के तीन स्रोतों अंतरंग तत्व, बाह्य तत्व और विरिधि तत्व के अतिरिक्त लोंजाइनस ने कल्पना और बिम्ब को भी उदात्त के लिए एक आवश्यक तत्व माना है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि किसी रचना में गरिमा, भव्यता और शक्ति को उत्पन्न करने का श्रेय बहुत कुछ बिम्ब के प्रयोग को भी है। इन्हें कुछ लोग वास्तविक मानस चित्र भी कहते हैं। लोंजाइनस का अभिप्राय है कि जब तक स्थिति का सजीव चित्र रचनाकार की कल्पना में नहीं बनेगा वह उसका जीवंत चित्रण नहीं कर सकेगा। किंतु कल्पना के अतिशय प्रयोग की उन्होंने निंदा की है। कल्पना का प्रयोग उसी सीमा तक किया जाना चाहिए कि वह अविश्वसनीय प्रतीत ना हो अन्यथा वह हास्यास्पद या निष्प्रभाव हो जाएगी।

लोंजाइनस के मत के अनुसार कविता में ही नहीं भाषण में भी कल्पना का प्रयोग किया जा सकता है - सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि कल्पना का प्रयोग भाषणों में प्रचुर मात्रा में ऊर्जा और संवेग का समावेश करने के लिए किया जा सकता है, किंतु जब इसका प्रयोग तर्कपूर्ण शैली से किया जाता है तब वह न केवल श्रोताओं को कायल ही करता है बल्कि उनको निश्चित रूप से अपने वश में कर लेता है।

लोंजाइनस की कल्पना विषयक धारणा को प्रायः विवादास्पद माना जाता है क्योंकि उन्होंने इसकी प्रसंग एवं निंदा दोनों की है किंतु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने केवल कल्पना के प्रयोग की

अविश्वसनीय स्थितियों की ही निंदा की है। कल्पना जहाँ नियंत्रित एवं विश्वसनीयता की सीमा में हो वहाँ उसका प्रयोग उचित एवं उदात्त की प्राप्ति में सहायक मानते हैं।

4.6. स्वच्छंदतावाद और लोंजाइनस

स्वच्छंदतावादी आलोचना पर लोंजाइनस का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यदि लोंजाइनस के 'पेरी इप्सुस' में स्वच्छंदतावादी तत्वों को खोजने का प्रयास किया जाए तो ऐसे अनेक तत्व मिलेंगे जिन्हें स्वच्छंदतावादी कहा जा सकता है। पेरी इप्सुस में लोंजाइनस ने जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उनमें विराट प्रकृति की उदात्तता के प्रति उनकी गहन रुचि दिखाई देती है। कल्पना तत्व का भी लोंजाइनस ने पर्याप्त समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त प्रबल भावावेग, कविता में तीव्रता, रूपक आदि का प्रयोग एवं मनोहर शब्दावली आदि शैली के अनेक पक्ष है जो स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति से सम्बद्ध है।

लोंजाइनस के विवेचन में यद्यपि अनेक स्वच्छंदतावादी तत्व विद्यमान है, किंतु उन्हें पूर्णतः स्वच्छंदतावादी आलोचक नहीं कहा जा सकता। स्टॉक जेम्स ने उन्हें प्रथम रोमांटिक आलोचक माना है किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे मात्र स्वच्छंदतावादी आलोचक ही थे। वास्तव में लोंजाइनस के विवेचन में अनेक ऐसे तत्वों का समावेश अनायास ही हो गया है जिन्हें स्वच्छंदतावादी आलोचना का समर्थन प्राप्त है। उन्हें भी स्वच्छंदतावादी आलोचक मान लिया गया है।

4.7. सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप समझ सके होंगे कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आलोचकों में लोंजाइनस का महत्वपूर्ण स्थान है। वे काव्य आलोचना के क्षेत्र में उदात्त तत्व की अवधारणा को प्रस्तुत कर काव्य आलोचकों को एक नई दिशा प्रदान करते हैं। लोंजाइनस का यह मानना है कि उदात्त तत्व ही काव्य का प्राणत्व है। उदात्त भाव, उदात्त विचार एवं उदात्त शैली के बिना कोई रचना महान नहीं हो सकती। अर्थात लोंजाइनस काव्यभिव्यंजना की विशिष्टता एवं उत्कर्ष का कारण उदात्त को मानते हैं। लोंजाइनस के समय अधिकतर कवि चमत्कार के मोह में पड़कर आडंबर के पीछे पड़े थे। लोंजाइनस ने इसी आडंबर का विरोध कर कवि के उदात्त व्यक्तित्व से लेकर भाव विचर, अलंकार और भाषा के अन्य पहलुओं तक उदात्त के

स्वरूप की चर्चा की। लोंजाइनस की विशद दृष्टि ने काव्य को व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक दोनों पक्षों के स्तर पर विश्लेषित किया और इसी दृष्टि के आधार पर उन्होंने उदात्त तत्त्व के स्रोतों को तीन भागों में विभाजित किया है – अंतरंग तत्व , बहिरंग तत्व और विरोधी तत्व। अतः लोंजाइनस अपने इस उदात्त तत्व के आधार पर काव्य के लिए एक नए स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं और काव्य की विषया वस्तु के लिए इसे उपयोगी आधार मानते हैं।

4.8. बोध प्रश्न

1) उदात्त की अवधारण को स्पष्ट करते हुए उसके विविध आयामों पर चर्चा कीजिए ?
2) उदात्त के विरोधी तत्वों की चर्चा कीजिए ?
3) लोंजाइनस का साहित्यि परिचाया के बारे में लिखिए ?
4) उदात्त के विभिन स्रोतों का विवेचन कीजिए ?

4.9. संदर्भ ग्रंथ

1) काव्य में उदात्त त्तव – डॉ. नगेन्द्र
2) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. सावित्री सिन्हा
3) पाश्चात्य काव्यशास्त्र – डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा

डॉ. एस आनंद

5. आई. ए. रिचर्ड्स- मूल्य एवं संप्रेषण का सिद्धांत

5.0. उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप-

- आई. ए. रिचर्ड्स- मूल्य एवं संप्रेषण सिद्धांत के बारे में जान सकेंगे।
- सम्प्रेषण के लिए आवश्यक तत्त्व की जानकारी ले सकेंगे।
- सम्प्रेषण की प्रविधि के बारे में जान सकेंगे।
- सम्प्रेषण के लिए रचनाकार की अपेक्षित योग्यताएँ जान पाएंगे।
- कलाकार की समानता का सिद्धान्त जान सकेंगे।
- सम्प्रेषण की सीमाएँ जान सकेंगे।

इकाई-V

5.1. प्रस्तावना

5.2. आई. ए. रिचर्ड्स-परिचय और कृतित्व

5.3. रिचर्ड्स का मूल्य सिद्धांत

5.4. सम्प्रेषण

5.5. सम्प्रेषण के लिए आवश्यक तत्त्व

5.6. सम्प्रेषण का अर्थ और स्वरूप

5.7. सम्प्रेषण की प्रविधि

5.8. सम्प्रेषण के लिए कलाकार की अपेक्षित योग्यताएँ

5.9. कलाकार की सामान्यता का सिद्धान्त

5.10. सम्प्रेषण की सीमाएँ

5.11. सारांश

5.12. बोध प्रश्न

5.1. प्रस्तावना

जब किसी वातावरण विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है और दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया के प्रभाव से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है, जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है, तो इसे प्रेषणीयता कहते हैं। मानना चाहिए कि किसी एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाने को ही काव्यशास्त्र में सम्प्रेषण का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक आइ. ए. रिचर्ड्स माने जाते हैं। कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास करता है। सम्प्रेषण की क्षमता सभी में एक जैसी नहीं होती। जिस कलाकार की सम्प्रेषण क्षमता जितनी अधिक होती है, वह उतना ही सफल माना जाता है।

रिचर्ड्स ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल ऑफ लिटेरेरी क्रिटिसिज्म' के चौथे और इक्कीसवें अध्याय में क्रमश: 'कम्युनिकेशन एण्ड द आटिर्स्ट' और 'ए थियोरी ऑफ कम्युनिकेशन' उपशीर्षकों के तहत अपनी सम्प्रेषण सम्बन्धी अवधारणा के विचार दर्ज किए हैं।

5.2. आई. ए. रिचर्ड्स-परिचय और कृतित्व :

बीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी आलोचकों में आइवर आर्मस्ट्रांग रिचंड्स को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आई. ए. रिचर्ड्स का जन्म सन् 1893 ई. में हुआ था। आपने समीक्षा-पद्धति को अपने युग के अनुरूप बनाने के लिए अनेक प्राचीन समीक्षा सिद्धान्तों का खंडन कर मनोविज्ञान एवं अर्थशास्त्र को भी साहित्य समीक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध करने का प्रयास किया है। साहित्य एवं कला को जीवन से पृथक् करने वाले सिद्धान्तों का उन्होंने प्रबल विरोध किया एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर काव्य का विवेचन कर उसे जीवन से सम्बद्ध करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया।

रिचर्ड्स ने अपनी पूर्ववर्ती आलोचना पद्धतियों का अन्धविरोध नहीं किया उनमें जो कुछ ग्राह्य था उसे ग्रहण भी किया है। स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा से उन्होंने भाव-पक्ष को ग्रहण किया। मैथ्यू आर्नल्ड के विचारों से सहमति व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि- 'मैथ्यू आर्नल्ड ने जब यह कहा कि कविता जीवन की आलोचना होती है तो वह एक ऐसी बात कह रहे थे जो एकदम प्रत्यक्ष है या जिसकी बराबर उपेक्षा की गई है। कलाकार का काम तो उन अनुभूतियों को अंकित कर देना एवं चिरस्थायी बना देना है जिन्हें वह सबसे अधिक मूल्यवान समझता है... कलाकार वह बिन्दु है जहाँ मन का विकास सुव्यक्त हो उठता है। उसकी अनुभूतियों में - कम से कम उन अनुभूतियों में जो उसका कृति को मूल्यवान बनाती हैं -ऐसे आवेगों का सामंजस्य लक्षित होता है, जो अधिकांश लोगों के मन में अस्त-व्यस्त, परस्पर अन्तर्मूत तथा द्वन्दरत हुआ करते हैं। जो कुछ अधिकांश लोगों के मन में अव्यवस्थित रूप में विद्यमान होता है, उसकी कृति उसी को व्यवस्था देती है।' मैथ्यू आर्नल्ड की भांति रिचर्ड्स भी काव्य को सामाजिक जीवन से सम्बद्ध मानते थे और इसीलिए उन्होंने मैथ्यू आर्नल्ड के विचारों का सम्मान भी किया है। उसकी शिक्षा पहले मेग्डलिन कालेज और फिर कैम्ब्रिज में हुई तथा प्रौढ़ावस्था में उसे हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने सम्मान पूर्वक डी. लिट. की उपाधि प्रदान की।

रिचर्ड्स ने अर्थ विज्ञान एवं मनोविकार के क्षेत्र से साहित्य में प्रवेश किया है, पर वह कई वर्षों तक हार्वर्ड विश्व विद्यालय में अंग्रेजी का अध्यापक भी रहा । रिचर्ड्स के उल्लेखनीय आलोचनात्मक ग्रंथ निम्नलिखित हैं - द फाउंडेशन ऑफ एस्थेटिक्स, द मीनिंग ऑफ मीनिंग-ए स्टडी ऑफ द इन्पलास ऑफ लैंग्वेज ऑन थॉट, एण्ड आन न साइन्स ऑफ सिम्बोलिज्म, साइन्स एण्ड पोएट्री प्रिसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, बेसिक रुल्स ऑफ रीजन, कालरीज आनन्द इमेजिनेशन, हाउ टू रीड ए पेज और प्रेक्टीकल क्रिटिसिज्म। इनमें प्रिन्सिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म बहुत अधिक प्रसिद्ध है।

डॉ. आई. ए. रिचर्ड्स मुख्यतया आलोचक है और उसने साहित्य की मनोवैज्ञानिक विवेचना द्वारा पाश्चात्य आलोचना को सर्वथा नूतन आलोक प्रदान करने का यत्न किया है। क्रोचे ने भी काव्यानुशीलन के लिए नवीन वैज्ञानिक उपलब्धियों का आधार लेने की ओर संकेत किया था और फ्रायड यंग तथा एलडर भी साहित्य जगत में मनोविज्ञान का उन्मेश कर चुके थे। साथ ही मेक्स ईस्टमैन काव्य को मानकर कवियों को विज्ञान की शरण में जाने का परामर्श दे रहा था। इससे पूर्व ही जार्ज सेन्टायना के भाव जगत एवं विज्ञान जगत में अन्तर निरूपित करते हुए, आनन्दवासी दृष्टिकोण की व्याख्या में सौन्दर्य एवं आनन्द का अनिवार्य सम्बन्ध मानते हुए कहा था कि सौन्दर्य से आनन्दानुभूति होती है।

सेंटायना ने इस मत से रिचर्ड्स सहमत नहीं है और वह सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध उन्हीं सामान्य भावनाओं से मानता है जिनका प्रकाशन एवं कार्य हम जीवन के सभी क्षेत्रों में देखते हैं तथा वह सौन्दर्य कला एवं जीवन और अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करता है। सत्य तो यह है कि वह एक ऐसा मौलिक चिन्तक एवं काव्य शास्त्र मर्मज्ञ है जिसने मनोविज्ञान, भाषा विज्ञान और आध्यात्मिक दर्शन के आलोक में अपने काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना की है। इस प्रकार उसने काव्य शास्त्र को दर्शन से मनोविज्ञान के क्षेत्र में ले आने का प्रयत्न किया और यह स्पष्ट करने के लिए कलाजन्य सौन्दर्य बोध जीवन से संपृक्त है। रिचर्ड्स ने भाषा के निम्नलिखित दो प्रकार के प्रयोग बतलाये है-एक तो अपनी भाषा द्वारा किसी सन्दर्भ विशेष के लिए वक्तव्य दिया जाता है, जो चाहे सत्य हो या मिथ्या हो, भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग। दुसरा प्रयोग मनोवेगात्मक है और भाषा का यह प्रयोग हमारे मनोवेगों तथा दृष्टिकोण को प्रभावी बताने में सहायक सिद्ध होता है।

रिचर्ड्स के शब्दों में विज्ञान तथ्यों का प्रकटीकरण करता है और काव्य भाषा को मनोवेगात्मक प्रयोग करता है लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि भाषा का प्रत्येक मनोवेगात्मक प्रयोग सौन्दर्यात्मक मूल्य का हो।

सौन्दर्य से उत्पन्न आनन्दप्रद मनोदशा न तो वह निष्क्रिय अवस्था है, जिसमें समान विरोधी प्रभावों के आकर्षक के कारण हम स्तब्ध और किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं और न वह उत्तेजना पूर्ण दृढ़ता एवं एकरूपता जो क्रोध आदि के प्रबल आवेग के कारण मन में आ जाती है।

अतः रिचर्ड्स कविता का मूल्य मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर मानता है। जो कविता पाठक या श्रोता के मन को जितना अधिक प्रभावित कर पायेगी, जिसमें सम्प्रेषणीयत्ता जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट कहलाएगी । रिचर्ड्स मनोवेगों के दो विभिन्न प्रकार मानता है-भूख वासना या एषणा और विमुखता इनमें से प्रथम प्रकार के आवेग प्रवृत्ति मूलक होते हैं और उनमें हम कुछ पाने के लिए उद्यत हो

उठते हैं तथा दूसरे निवृत्ति मूलक होते हैं और उनमें कुछ वस्तुओं के प्रति हमारे मन में विमुखता उत्पन्न हो जाती है। रिचर्ड्स उन एषणाओं (aspirations) को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है जो कम से कम अन्य एषणाओं को अवरुद्ध या विनष्ट किये बिना कायम रहती है।

रिचर्ड्स के अनुसार कला का मूल्य इस बात में है कि वह हमारे आवेगों संगीत एवं संतुलन स्थापित करें और हमारी अनुभूतियों के क्षेत्र को व्यापक बनाये। इस प्रकार साहित्य मनुष्य को पारस्परिक सहयोग के लिए प्रेषित करता है और रिचर्ड्स दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन एक ऐसी मनः स्थिति उत्पन्न करना है। जिसमें आवेगों का सन्तुलन होने के साथ-साथ बाह्य क्रिया के लिए तत्परता उत्पन्न हो जाय। साथ ही वह सौन्दर्य की विषय निष्ठता पर जोर देते हुए भी सौन्दर्य को न तो पूर्णतः विषयीगत और न पूर्णतः विषयगत मानने के पक्ष में है। उसमें 'सौन्दर्य' शब्द के स्थान पर अनुभूति का मूल्य शब्द प्रयुक्त किया है और इस मूल्य की सत्ता उद्दीपन में न मान कर अनुक्रियाओं में मानी है।

रिचर्ड्स ने साहित्य एवं विज्ञान के परस्पर सम्बन्ध और भेद पर विचार करते समय मानवीय अनुभव के बाह्य जगत एवं मानसिक अवस्थाएँ नामक दो भेद माना है। विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य जगत से और साहित्य का मानसिक अवस्थाओं में बतलाया है। उसका कहना है कि वैज्ञानिक निर्देशों का वास्तविक आधार रहता है पर साहित्यिक निर्देशों का आधार वास्तविक होना आवश्यक नहीं है। निर्देश चाहे वास्तविक हो अवास्तविक उनका आन्तरिक सम्बन्ध अन्तर्वेगीय होता है। अन्तर्वेग मन की एक भावनात्मक वृत्ति है। जिस प्रकार किसी वैज्ञानिक वृत्ति को समझने के लिए न्यायात्मक बुद्धि आवश्यक है उसी प्रकार साहित्यिक कृति को समझाने के लिए कलात्मक बुद्धि आवश्यक होती है।

यद्यपि रिचर्ड्स ने सत्य का सम्बन्ध विचार से और शिव का सम्बन्ध इच्छा से माना है पर इसे सुन्दर और भाव में कोई भी सम्बन्ध स्वीकार नहीं हैं तथा उनका कहना है कि सत्यं ज्ञानात्मक मनोवृत्ति के क्षेत्र में आता, शिवं क्रियात्मक मनोवृत्ति के क्षेत्र में है और सुन्दरं कला मीमांसा सम्बन्धी मनोवृत्ति के क्षेत्र में है। उनका कहना है कि कला मीमांसा सम्बन्धी वृत्ति वस्तुओं के सद्भाव उसकी सत्यता एवं उपयोगिता आदि की खोज में रुचि नहीं रखती और यह कला मीमांसा सम्बन्ध अनुभव विशिष्ट स्वभाव वाला भी है। यह विशिष्ट स्वभाव दो प्रकार से स्थिर किया गया है। पहले के अनुसार एक विचित्र प्रकार का मानसिक तत्व अर्थात् सौन्दर्यगत भाव हमारे उक्त अनुभव को निर्दिष्ट करता है और दूसरे के अनुसार आत्मप्रेषण ही उक्त कला मीमांसा सम्बन्धी अनुभव का विशिष्ट लक्षण है लेकिन मनोवैज्ञानिक इन दोनों अर्थात सौन्दर्यगत भाव आत्मप्रेषण को महत्व नहीं प्रदान करता। एक मनोवैज्ञानिक होने के कारण रिचर्ड्स ने भी सौन्दर्यगत भाव का रूप एक विशेष प्रकार का मानते हुए भी उसे एक साधारण औपत्तिक अनुभव ही स्वीकार किया है।

रिचर्ड्स प्रेषण को कला से बाह्य न मानकर उसे कला का तात्विक धर्म ही बतलाता है। उसकी दृष्टि में वही सौन्दर्यगत अनुभव ठीक है, जो सम्प्रेषण में सफल होता है। पर इस सम्प्रेषण के लिए कलाकार को अलग से कोई प्रयास नहीं करना चाहिए। क्योंकि कला को वास्तविक रूप देने की प्रक्रिया में यह गुण आप ही आ जाता है। अतएव कलाकार की सफलता की एक कसौटी यह है कि वह जो कुछ कहना चाहता था, उसे वह दूसरों तक पहुंचा सका है या नहीं और हमारे मन में यह भावना हमेशा रहती है कि हमारी मानसिक

क्रियाओं से दूसरों का भी सम्बन्ध है। रिचर्ड्स के अनुसार न केवल वक्ता के पास विशिष्ट प्रकार की संप्रेषण योग्यता होनी चाहिए अपितु श्रोता के पास भी वैसा ही विशिष्ट ग्राहिका शक्ति रहनी चाहिए।

कलाकार को सफल व्यंजना में सहायता देने वाले गुणों की चर्चा करते हुए रिचर्ड्स ने कहा कि प्रथम तो कलाकार की अनुभूति अधिक विस्तृत एवं मूल्यवान होनी चाहिए और वह उस अनुमति के विविध तत्वों में सम्बन्ध स्थापित करने में स्वतन्त्र भी हो। इसके लिए आवश्यक है कि वह विगत को अपने मन में स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत कर सके और इस हेतु उसे अपनी पूर्वकालीन मनोदशा की उपलब्धि के साथ-साथ अनुभूति के क्षण में क्रिया शील होने वाले आवेगों की व्यवस्थित संघटना भी करनी होगी। साथ ही वस्तु या स्थिति के पूर्ण बोध के लिए कलाकार में जागरूक निरीक्षण शक्ति भी आवश्यक है सफल संप्रेषण के लिए कलाकर के आवेग तथा विभाव को समान होना चाहिए और जहाँ कहीं कुछ विभिन्नता हो वहाँ कल्पना की सहायता ली जाये। अतएव रिचर्ड्स प्रेषणीयता के तीन बातें आवश्यक मानता है -

(1) कलाकार की अनुक्रियाएँ एक रस हो।

(2) वे पर्याप्त रूप से विभिन्न प्रकार की हो।

(3) वे अपने उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न किये जाने योग्य हों।

इसी प्रकार रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण से सम्बद्ध दो त्रुटियों का उल्लेख किया है -

(1) मूल्यहीन अनुभूति के निर्दोष संप्रेषण।

(2) मूल्यवान अनुभूति का सदोष संप्रेषण।

रिचर्ड्स की दृष्टि में कल्पना मन की कोई रहस्यपूर्ण क्रिया न होकर, मन की अन्य क्रियाओं के समान ही है। जब कुछ आवेगों से सक्रिय हो जाने पर अन्य आवेग भी जाग्रत हो जाते हैं तब उन्हें कल्पना कहा जाता है। रिचर्ड्स ने कल्पना के आवृत्यात्मक एवं रूपात्मक नामक दो प्रकार माने हैं और कल्पना के प्रचलित छः अर्थ बतलाते हैं। पहले अर्थ में कल्पना चाक्षुष सुस्पष्ट बिम्बों की उत्पादक कही जाती है और दूसरे अर्थ में उसका सम्बन्ध अलंकार भाषा के प्रयोग से है तथा तीसरे अर्थ में वह अन्य मनुष्यों की मन:स्थिति एवं उनमें मनोवेगों को सहानुभूति पूर्वक पुनः प्रस्तुत कर सकती है। साथ ही चौथे अर्थ में कल्पना युक्ति कौशल की द्योतक है और पाँचवां वर्ग उस वैज्ञानिक कल्पना का है जिसमें कल्पना अनुभव को निर्णीत ढ़ंगों में निर्णीत उद्देश्यों के लिए व्यवस्थित करती है छठे अर्थ में कल्पना वह मार्मिक एवं संयोगिक शक्ति है जो विपरीत एवं विस्तृत गुणों को संतुलित कर देती है। इन छः भेदों में से अन्तिम भेद को रिचर्ड्स सर्वश्रेष्ठ मानता है और कल्पना का सर्वश्रेष्ठ गुण एवं कार्य यही बतलाता है कि वह विभिन्न एवं विपरीत मनोवेगों तथा अनुभवों में व्यवस्था एवं संतुलन उत्पन्न करती है।

व्याख्यात्मक आलोचना के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए रिचर्ड्स ने कहा है कि रचना को अच्छी तरह समझने के लिए आलोचक को चाहिए कि वह रचना को उसके वास्तविक रूप में देखे और ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न करें जो रचना के अनुकूल हो। उसने इसके लिए एक विस्तृत क्रिया निश्चित करने हुए कहा है कि प्रत्येक लेख या वक्तव्य के सम्पूर्ण अर्थ में जो कई धाराएँ होती हैं उनमें से अर्थ, भाव, ध्वनि एवं

उद्देश्य नामक चार धाराएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं। रिचर्ड्स इन चारों का विवेक सम्मत समन्वय आवश्यक मानते हुए यही कहता है कि व्याख्यात्मक आलोचना करते समय, आलोचक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह रचयिता की प्रतिभा में पूर्णतः लीन होकर रचयिता के उस अनुभव का ज्यों का त्यों पुनरुत्पादन करें जिससे उस कृति की रचना हुई थी। इसे पुनरुत्पादन की अवस्था में आलोचक के मन की प्रवृत्ति संवेदनशील और ग्रहणशील होना आवश्यक है पर इस प्रवृत्ति के लिए निम्नलिखित बातें घातक मानी गयी हैं –

(1) असंगत स्मृतियाँ।

(2) सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ।

(3) प्रतिभावुकता।

(4) निरोध।

(5) किसी विशिष्ट धर्म, संप्रदाय या दर्शन में आस्था।

(6) रचना कौशल सम्बन्धी पूर्व कल्पना आदि।

रिचर्ड्स आलोचना में निष्कपटता, ईमानदारी एवं आत्म सम्पूर्णता आदि बातें आवश्यकता मानते हुए आलोचक का परिश्रमशील एवं विद्वान होना भी जरूरी बतलाता है। उसने आलोचना एवं व्याख्या का अन्तर स्पष्ट करते हुए यही कहा है कि व्याख्या आलोचना से पहले की वस्तु है और जहाँ कि व्याख्याता केवल कृति का प्रबुद्ध ग्रहण कर उसमें प्रवेश कर जाता है वहाँ आलोचक पहले कृति को पढ़कर उसे ध्यान में रखने के बाद उसके गुण दोषों पर अपना निर्णय देता है। साथ ही व्याख्या में प्रायः तुलना नहीं होती है और व्याख्याकार रचयिता की चित्त सृष्टि का पुनर्निर्माण करते हुए भी उस पर निर्णय नहीं देता लेकिन आलोचना में तुलना बराबर रहती है और आलोचक चित्त सृष्टि पर निर्णय भी देता है। इस प्रकार व्याख्या ग्रहणशील होने के कारण नवीन अनुभव स्वीकार करती है परन्तु आलोचना क्रियाशील होती है और वह न केवल मूल्यांकन करती है अपितु मानदण्ड भी निर्धारित करती है यहाँ यह भी स्मरणीय है कि रिचर्ड्स ने आलोचना को कला न मानकर शास्त्र कहा है और उसकी भाषा में स्पष्टता तथ्यपरकता एवं तार्किक सम्बन्धों को आवश्यक बतलाते हुए, काव्यात्मकता, रहस्यमयता एवं अस्पष्टता को आलोचना के दोष माना है।

रिचर्ड्स काव्य के माध्यम से प्रकृत नीति वादिता की आवश्यकता पर बल देते हुये कहता है कि इस प्रकृतिवादी नैतिकता के उन्मेष से जीवन में स्वस्थ नैतिक मूल्यों का उन्मेष हो सकता है। उसने शैली के इस कथन की सराहना भी की है कि नैतिकता की आधारशिला धर्मोपदेशक द्वारा नहीं कवियों द्वारा ही रखी जाती है। वह कविता का साध्य, कविता नहीं मानता और उसने ब्रैडले के कलावादी सिद्धान्त या कथा के लिये कला नामक विचारधारा का विस्तारपूर्वक खण्डन करते हुये कला एवं नीति का परस्पर सम्बन्ध स्वीकार किया है।

इस सम्बन्ध में रिचर्ड्स के विचारों का सार निम्नलिखित है-

(1) ब्रैडले ने मानव के उदात्त मूल्यों धर्म संस्कृति, शिक्षा भावों के उदात्त परिष्कार आदि को काव्य धरातल पर स्वीकार नहीं किया। इस पर रिचर्ड्स का कथन है कि 'मानव के इन उदात्त तत्वों के मूल में ही काव्य अपना अर्थ लिये हुए है।'

(2) रिचर्ड्स ने ब्रैडले के इस कथन को भी स्वीकार नहीं किया है कि कल्पना जन्य अनुभूति का मूल्यांकन एक आन्तरिक अनुभूति का विषय है। किन्तु रिचर्ड्स मूल्यों के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट है। काव्य का मूल्यांकन सापेक्षता लिये हुए होता है। उसमें परोक्ष के महत्व की सम्यक् चर्चा किये बिना हम उसका उचित मूल्यांकन नहीं कर सकते।

(3) ब्रैडले इस परोक्ष और सापेक्षता से काव्य मूल्य का विघटन है। इसके लिये रिचर्ड्स कहता है कि 'उच्चकोटि के काव्य में परोक्ष भाव से काव्यमय हो जाते है कि हम उन साध्यों को परोक्ष साध्य नहीं कह सकते।

(4) ब्रैडले के कथननुसार काव्य की प्रकृति यह नहीं कि वह वस्तु जगत का अंग अथवा उसका प्रतिरूप हो उसकी निजता तो इस बात में वह एक स्वतन्त्र, स्वतः पूर्ण, निरपेक्ष एवं स्वामत्त जगत हो। उनके प्रकृति को आत्मसात करने के लिये हमें काव्य जगत में प्रवेश करना होगा, उसके नियम मानने होंगे और हमारे इस वस्तु जगत के जो विश्वास, उद्देश्य और विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं, उन्हें कुछ समय के लिये भूल जाना होगा। इस प्रकार रिचर्ड्स कला, कला के लिये सिद्धान्त का विरोध करता है और काव्य में साधारणीकरण को आवश्यक मानता है।

काव्य-भाषा के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुये रिचर्ड्स ने ध्यान सर्वप्रथम इस ओर आकृष्ट किया है कि भाषा प्रयोग के वैज्ञानिक या तथ्यात्मक एवं रागात्मकता नामक दो भेद होते हैं पर काव्य भाषा में रागात्मकता ही प्रमुख रूप से रहती है। साथ ही वह भाषा को ऐसे प्रतीकों का समूह मानता है जो श्रोता पाठक के मन में रचयिता के मन के अनुरूप अवस्था उत्पन्न करते हैं और भाषा का यह प्रतीकत्व वक्ता एवं श्रोता के मध्य अखण्ड मानसिक व्यापार का सूत्रपात करता है। उसने भाषा के प्रभाव के विभिन्न स्तरों की चर्चा भी की है और सर्वाधिक उच्च स्तर उसे कहा है जिसमें रूपकों का प्रयोग किया जाता है। साथ ही वह शब्द को स्वतन्त्र एवं स्वतः पूर्ण न मानते हुए यही कहता है कि शब्दों का अर्थ प्रसंग के अन्तर्गत उद्घाटित होता है पर उसने परम्परा अर्थ न लेकर प्रसंग भी कल्पना में ऐसे नवीन तत्वों का समावेश किया है जिनका सम्बन्ध मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र से है।

रिचर्ड्स कविता के लिए लय को अनिवार्य मानता है। उसकी दृष्टि में लय केवल ध्वनियों की व्याख्या नहीं है, बल्कि उसमें गम्भीर भावनाएँ और शब्दों के अर्थ भी नियोजित रहते हैं। उनका विचार है कि लय का आधार है प्रत्याशा और संगीत या कविता में ध्वनि इस प्रकार नियोजित की जाती है कि निरंतर हम पहले से ही भावी संभावनाओं का बोध मन में दबाये रखते हैं। उसने यह भी कहा कि छन्द वह साधन है जिसके द्वारा शब्द एक दूसरे को अधिकतम सीमा तक प्रभावित करते हैं, और जिसमें लय अधिक विकसित होकर प्रकट होती है तथा भाव एवं अर्थ आदि उतना ही महत्व रखते है जितनी ध्वनि।

5.3. रिचर्ड्स का मूल्य सिद्धांत

वैश्विक साहित्यालोचना को रिचर्ड्स की सबसे महत्वपूर्ण देन मूल्य सिद्धांत है। मनोविज्ञान रिचर्ड्स की आलोचना की आत्मा है। उनके मूल्य सिद्धांत को समझने के लिए उनके द्वारा निरूपित मानसिक प्रक्रिया से परिचय पाना आवश्यक है। रिचर्ड्स मानते थे कि आधुनिक युग के आगमन के साथ ही मनुष्य का जीवन जटिल हुआ है। इतनी जटिलता पूर्व-औद्योगिक समाज में नहीं थी। औद्योगिक सभ्यता ने मनुष्य की भौतिक दुनिया को विस्तार दिया है, इसी के साथ-साथ उसकी इच्छाएँ भी बढ़ती गई। इनमें से कुछ इच्छाएँ पूरी हुई, किन्तु अधिकांश अधूरी रह गई। पूर्ण इच्छाएँ संतोष प्रदान करती हैं जबकि अपूर्ण इच्छाएँ असंतोष को जन्म देती हैं। इस प्रकार मनुष्य के मन में संतोष और असंतोष का द्वंद्व चलता रहता है। इससे मनुष्य की चित्तवृत्तियों में असंतुलन पैदा होता है। इस दुविधागत मनःस्थिति में उसके जीवन की सुख-शांति नष्ट हो जाती है। मूल्यसिद्धांत राजनीतिक-अर्थशास्त्र (Political-economics) से आया है।

आरंभिक पूँजीवाद के दिनों में व्यक्तिवाद के संदर्भ में मूल्यवत्ता की चर्चा होती थी। यह मूल्यवत्ता उपादेयता या उपयोगिता के सिद्धांत पर आधारित थी। इस सिद्धांत का प्रतिपादन बेंथम ने किया था। इसे उपयोगितावाद (utilitarianism) के नाम से जाना जाता है। इसमें 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' वाला सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था। आई. ए. रिचर्ड्स ने बेंथम के अर्थ दर्शन का मनोवैज्ञानिक रूपांतरण करते हुए उसे साहित्य सिद्धांत में परिणत किया। 'प्रिंसिपल ऑफ लिटेरेरी क्रिटिसिज्म' के सातवें अध्याय में रिचर्ड्स ने बेंथम का उल्लेख भी किया है। बेंथम के उपयोगितावादी दर्शन के अनुसार, मनुष्य के सभी कार्यों का अंतिम उद्देश्य सुख की प्राप्ति है। रिचर्ड्स ने इसे चित्तवृत्तियों की संतुष्टि और उसके संतुलन तथा सामंजस्य का नया नाम दिया। रिचर्ड्स ने उसी चीज को मूल्यवान बताया जो इच्छा को संतुष्ट करती हो। लेकिन शर्त यह है कि वह अपने समान या उससे अधिक महत्वपूर्ण किसी अन्य इच्छा को असंतुष्ट न करें। दूसरों की इच्छा को असंतुष्ट किए बिना यदि कोई इच्छा संतुष्ट हो तो वह अधिक मूल्यवान है।

पूर्णता तो यह है कि सारी इच्छाएँ संतुष्ट हों और आवेगों से उनका सामंजस्य स्थापित हो। लेकिन व्यवहार में यह संभव नहीं है। इसीलिए रिचर्ड्स अधिकतम इच्छाओं की तृप्ति से अधिकतम चित्तवृत्तियों में संतुलन तथा न्यूनतम के क्षरण का प्रस्ताव करते हैं, इसी स्थिति को सहसंवेदन भी कहते हैं। रिचर्ड्स के मतानुसार किसी वस्तु के अच्छे और बुरे होने का आधार मनोविज्ञान ही है। किसी भी वस्तु की मूल्यांकन संबंधी अवधारणाओं का संबंध मानसिक आवेगों से है। रिचर्ड्स मन को स्नायुतंत्र या उसकी क्रियाओं का एक अंग मात्र स्वीकार करते हैं। (प्रिंसिपल्स ऑफ *लिटेरी* क्रिटिसिज्म, पृष्ठ 63) मानव मन के भीतर परस्पर विरोधी आवेगों की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए इसे वे दो भागों में बांटते हैं 1) अभिलाषा या इच्छा (Appentency) 2) वितृष्णा या विमुखता (Aversion) (पृ 35) इच्छा प्रवृत्तिमूलक अर्थात् आसक्तिपरक आवेग है। वितृष्णा निवृत्तिमूलक है। इन आवेगों के बीच संघर्ष और विरोध होता रहता है।

आदर्श स्थिति यह है कि मन के संघर्षरत सभी आवेग शांत हो जाएँ जो कि असंभव है। अधिकतम आवेग संतुष्ट हों तथा न्यूनतम आवेग अतृप्त हो जाएँ तो भी कुछ शांति मिल सकती है। यह काम कविता या अन्य कलात्मक कृतियाँ कर सकती हैं। इसका कारण यह है कि कवि या कलाकार ऐसे असाधारण लोग होते हैं, जिनका अपनी अनुभूतियों पर अधिकतम नियंत्रण होता है। उनकी विभिन्न क्रियाओं में सर्वोत्तम सामंजस्य

रहता है। स्वार्थों की स्वभाव जितनी संकीर्णता और अस्त-व्यस्त विमूढ़ता का स्थान जटिल रूप से निष्पन्न शांति ले लेती है। (पृ. 32) कवि की इसी समन्वित एवं संतुलित मनोदशा से उत्पन्न कृति पाठक या भावक के अंतर्मन को अपना रंग देती है। इसी दशा में आवेगों के संघर्ष रुक जाते हैं और पाठक को परम शांति और विश्रांति (poise) की अनुभूति होती है। रिचर्ड्स इसी अवस्था को मूल्यवान मानते हैं। उनके लिए इसी क्षण का मूल्य है। वे मूल्य को परिभाषित करते हुए स्पष्ट करते हैं कि कोई भी वस्तु जो इच्छा को संतुष्ट करें मूल्यवान है।

आवेगों को विश्रांति देने के कारण ही कविता मूल्यवान है। कविता की इसी मनोवैज्ञानिक मूल्य की स्थापना रिचर्ड्स करते हैं। इसी के आलोक में कविता की उपादेयता सिद्ध करते हैं और इससे पहले कि सारी काव्यालोचना को निरर्थक बताते हैं। रिचर्ड्स से पहले की काव्यालोचना में सौंदर्यानुभूति कुछ-कुछ लोकोत्तर थी। वह अतींद्रिय सौंदर्य दृष्टि थी। इमानुएल कांट की सौंदर्य दृष्टि यही थी। रिचर्ड्स की महत्ता इसमें है कि उन्होंने सौंदर्यानुभूति को इंद्रियों की अनुभूति से जोड़ा वे सौदर्यानुभूति को अद्वितीय भाव दशा या मनोदशा नहीं मानते। साहित्य की लौकिक सत्ता की दृष्टि से यह बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धांत साबित हुआ। ध्यान देने की बात है कि रिचर्ड्स द्वारा प्रस्तावित विश्रांति का भाव आनंद भाव नहीं है। यह सही है कि रिचर्ड्स ने अपने मूल्य सिद्धांत को बेंथम और जेम्स मिल के सुखकामना सिद्धांत (hedonism) की बुनियाद पर खड़ा किया था। लेकिन रिचर्ड्स उनकी तरह सुखवादी (hedonist) नहीं है।

वृत्तियों के जिस सामंजस्य और संतुलन को रिचर्ड्स ने मूल्य माना है, उसमें आनंद की भूमिका नहीं है। उनके लिए काव्यानुभूति आनन्दानुभूति नहीं है। स्नायुजनित उत्प्रेरण की बुनियाद पर खड़ा आई. ए. रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्य सिद्धांत कई बड़े समीक्षकों के लिए ग्राह्य नहीं था। टी. एस. इलियट ने 'द यूज़ ऑफ पोएट्री एंड द यूज़ ऑफ क्रिटिसिज्म' की भूमिका में तथा 'माडर्न माइंड' में इसका विरोध किया। इलियट लिखते हैं कि मैं इस प्रकार के किसी सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकता, जो स्वयं शुद्ध वैयक्तिक मनोविज्ञान की नींव पर टिका हो। इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत रिचर्ड्स के मत के विरुद्ध है। वैयक्तिक अनुभव पर आधारित साहित्य-सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया निरंतर नहीं हो सकती है। रिचर्ड्स सामंजस्य और संतुलन की प्रक्रिया को समझाने में भी असमर्थ रहे। उन्होंने बताया की अंतर्वृत्तियों का सामंजस्य सौंदर्यशास्त्रीय अनुभव से निष्पन्न होता है। लेकिन इसका विश्लेषण संभव नहीं है।

रिचर्ड्स जिस मनोविज्ञान का सहारा लेकर अपने काव्यानुभव को वैज्ञानिक आधार दे रहे थे, वह स्वयं सच्चे अर्थों में विज्ञान नहीं है। इसमें निरंतर नए खोज हो रहे हैं। मनोविज्ञान में भी मूल्य कोई स्थिर चर (variable) नहीं है। रिचर्ड्स ने तात्कालिक खोजों के आधार पर आलोचना सिद्धांत बनाया। इसीलिए उसका स्थायी एवं परिनिष्ठित रह पाना संदेहास्पद था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जिन आवेगों पर रिचर्ड्स ने अपने सिद्धांत को प्रतिष्ठित करना चाहा उसका एक बड़ा हिस्सा अचेतन या अर्धचेतन है। इनका निश्चयात्मक ज्ञान संभव नहीं है। अतः इनके आधार पर सिद्धांत निर्माण बहुत पुख्ता नहीं होगा। आवेगों की विश्रांति को काव्य का प्रयोजन बताकर रिचर्ड्स ने काव्यास्वाद के सर्वकालिक एवं सार्वभौमिक अवधारणाओं को अनदेखा किया। काव्यानंद के बारे में यह विशेष रूप से सही है। रिचर्ड्स ने लिखा है कि कविता को आनंद के लिए पढ़ना अपर्याप्त अभिवृत्ति का द्योतक है (प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म,

पृ.97) यहाँ रिचर्ड्स नई और मौलिक बात तो कह रहे हैं लेकिन इसके लिए वे काव्यशास्त्र की स्थापित परंपरा की बलि भी दे रहे हैं। जान क्रो रैन्सम (John Crowe Ransom) ने बताया कि रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत में काव्य विषयक संरचना का लेखा विशुद्ध रूप से परिकल्पना है और इसे स्वीकार करने पर आलोचना का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा।

यदि यह मान लिया जाए कि संतुलित विश्रांति (balanced poise) हमारी प्रतिक्रिया में है, न कि उद्दीपक वस्तु की संरचना में। ऐसी स्थिति में कविता के विश्लेषण का सारा आलोचकीय श्रम निरर्थक होगा। साथ ही कवि द्वारा कविता को एक साथ एक खास स्वरूप देने का श्रम भी बेकार होगा। (लिटरेरी *क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट* हिस्ट्री, पृष्ठ 620)

मूल्य सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए रिचर्ड्स ने कवि की मानसिक प्रक्रिया को अनदेखा किया। ऐसा उन्होंने इसलिए किया ताकि साहित्येतर प्रसंगों की ओर न जाना पड़े। इससे पाठ की स्वायत्तता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता। अतः उन्होंने पाठ के विवेचन में फ्रायड और युंग को भी दरकिनार किया। साथ ही कवि एवं उसके समय से कविता को काटते हुए पाठ्य कृति के विवेचन में एक नया प्रयोग किया। इस प्रकार उन्होंने एक नए रूपवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया। रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत में नयापन है। विवेचन एवं विश्लेषण भी तर्कसंगत है, लेकिन इसे न तो मनोवैज्ञानिक ही पुष्ट करते हैं और न ही काव्यालोचक। फिर भी पाठक को केंद्रीयता देने तथा विवेचन पद्धति के नएपन और विशिष्टता के कारण साहित्य सिद्धांत में इसका विशेष महत्व है।

5.4. सम्प्रेषण

रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण को कविता का तात्विक धर्म माना है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य क्योंकि एक सामाजिक प्राणी है, उसका विकास समाज में रहकर ही हुआ हैं, अतः वह जो कुछ करता है, उसे समाज के सामने व्यक्त करना चाहता है। रिचर्ड्स उसी सौन्दर्यानुभव को श्रेष्ठ मानते हैं जिसे सम्प्रेषित किया जा सके। क्रोचे की भाँति सौन्दर्यानुभव को उन्होंने केवल आन्तरिक प्रक्रिया मात्र नहीं माना। सम्प्रेषण के लिए कलाकार को विशेष रूप से कोई प्रयत्न नहीं करना होता, सम्प्रेषण का गुण उसकी रचना प्रक्रिया में स्वयं ही आ जाता है। सम्प्रेषण को उन्होंने एक प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया है। श्रेष्ठ कवि का मूल्यांकन वे इस आधार पर करते हैं कि वह जो कुछ कहना चाहता है उसे ठीक ढंग से इस प्रकार कह सका है या नहीं कि श्रोता या पाठक उसे समझ जायें। उनका मत है कि यह संभव है कि रचना करते समय उसके सम्प्रेषण की भावना कवि के चेतन में न हो किन्तु उसके अचेतन मन में यह भावना अवश्य होती है। हमारे मन में यह भावना सदैव वर्तमान रहती है कि हमारे मानसिक व्यापारों में अन्य व्यक्तियों की रुचि है और इसीलिए सम्प्रेषण के द्वारा कवि एवं पाठक दोनों के ही मन में एक सी ही अवस्था उत्पन्न हो जाती है। सम्प्रेषण के लिए यह आवश्यक है कि कवि एवं पाठक दोनों में ही यह योग्यता हो–कवि में सम्प्रेषण करने की और पाठक में सम्प्रेषण को ग्रहण करने की। रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण के लिए समस्या उस स्थिति में उत्पन्न होती है, जब कवि को अपने श्रोता के अनुभव के लिए साधन भी प्रस्तुत करने होते हैं। यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब श्रोता के अपने अनुभव सम्प्रेषण को ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए रिचर्ड्स ने यह सुझाव दिया है कि कलाकार की अनुभूति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होना चाहिए और उसमें यह क्षमता भी

होनी चाहिए कि वह अनुभूति के विभिन्न तत्वों में सम्बन्ध निर्मित कर सके। उसमें यह योग्यता भी होनी चाहिए कि वह अतीत को अपने मस्तिष्क में पुनः प्रस्तुत कर सके। उन्होंने सम्प्रेषण के लिए जिन तीन तत्वों को आवश्यक माना वे हैं --कलाकार की अनुक्रियाओं में एकरूपता होनी चाहिए, उनमें पर्याप्त विभिन्नता भी आवश्यक है साथ ही उनमें यह योग्यता भी होनी चाहिए कि वे उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न की जा सके। इसके लिए दो दोषों से बचने का परामर्श भी दिया है जो संभव हो सकते हैं—मूल्यहीन अनुभूति का निर्दोष सम्प्रेषण और मूल्यवान अनुभूति का सदोष सम्प्रेषण।

5. 5. सम्प्रेषण के लिए आवश्यक तत्त्व

सम्प्रेषणीयता को प्रभावी बनाने के लिए जिन बातों की जरूरत होती है वे हैं -

1. कवि या कलाकार की अनुभूति व्यापक, विस्तृत और प्रभावकारी होनी चाहिए।
2. अनुभूति के क्षणों में आवेगों का व्यवस्थित ढंग से सन्तुलन होना चाहिए।
3. वस्तु या स्थिति के पूर्ण बोध के लिए कलाकार या कवि में जागरूक निरीक्षण-शक्ति होनी चाहिए।
4. कलाकार और प्रेक्षक के अनुभवों में तालमेल होना चाहिए। दोनों में अन्तर हो, तो कल्पना की सहायता से उन्हें सम्प्रेषणीय बनाना चाहिए।
5. सम्प्रेषण के लिए आवश्यक प्रतिक्रियाओं में तीन बातों की आवश्यकता होती है।

(क) वे एक-सी हों।

(ख) वे विविध हों।

(ग) उत्तेजनाओं से प्रेरित होने वाली हों।

5.6. सम्प्रेषण का अर्थ और स्वरूप

रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण कला का तात्त्विक धर्म है। कलाकार का अनुभव विशिष्ट और नव्य होने के कारण, उसकी सम्प्रेषणीयता, समाज के लिए मूल्यवान है। सम्प्रेषण से अभिप्राय एकात्म, एकस्व, अद्वितीय, एकमेक होना नहीं बल्कि एकसार होना, सदृश होना, सम्भाव्य होना, एकसूत्र होना, एकमत होना, एकरूप और एकतान होना इत्यादि है। रिचर्ड्स के सम्प्रेषण सिद्धान्त के सारे समीकरण एक सत्तावाद व एकत्ववाद या अद्वैतभाव के विभ्रमों में नहीं बल्कि एकस्वरता, सहमति, एकरूपता, एकसूत्रता, एकीकृत और एकतानता आदि के आलोक में ही सार्थक ढंग से खुलते हैं। सम्प्रेषण के विश्लेषण के उपक्रम में रिचर्ड्स मन की अलग-अलग सत्ता को आधारभूत तथ्य मानकर चलते हैं। उनका कहना है कि मन तो अलग-अलग है ही, दो मन (कवि और पाठक) की अनुभूतियाँ भी पृथक हैं। सम्प्रेषण की प्रक्रिया वहाँ घटित होती है जहाँ अलग-अलग व्यक्तियों की अनुभूतियों में प्रायः समानता हो। सम्प्रेषण तब घटित होता है जब एक मन अपने परिवेश के प्रति इस प्रकार से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो जाता है और उस दूसरे मन में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती है, जो प्रथम मन की अनुभूति के समान और अंशत: उसके कारण उत्पन्न होती है। रिचर्ड्स के सम्प्रेषण सिद्धान्त का नाभिकीय वक्तव्य उक्त पंक्तियों में निहित है। सम्प्रेषण के अर्थ और स्वरूप के बारे में रिचर्ड्स ने अपनी मूल स्थापनाओं को 'प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में

रखने का प्रयास किया है। अन्य पुस्तकों Meaning of Meaning, Practical Criticism, The Foundation of Aesthetics इत्यादि में भी रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण के बारे में अनेक महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ दर्ज की हैं।

रिचर्ड्स के सम्प्रेषण-विश्लेषण का अभीष्ट सम्प्रेषण का अर्थ-द्योतन नहीं, बल्कि सम्प्रेषण के 'तात्पर्य' के अन्वेषण से है। दूसरे, रिचर्ड्स ने 'सम्प्रेषण' को अलौकिक, अनिर्वचनीय, रहस्यमूलक और दुर्बोध्यता के घेरे से बाहर निकालकर उसके बारे में एक बोधगम्य और व्यवहारिक व्याख्या-पद्धति के निर्माण का प्रयत्न किया है। रिचर्ड्स की व्याख्या पद्धति स्पष्ट, विवेकी, स्वीकार्य और व्यवहारिक है। सबसे पहले तो उन्होंने उन रहस्यमूलक और अविवेकी विभ्रमों के निराकरण का प्रयास किया है, जो समीक्षा की दुनिया में प्रवादित रहे हैं। उनका कहना है कि समीक्षा में कुछ अन्य विषयों की तरह, सम्प्रेषण-व्यापार पर भी रहस्यमय ढंग से सोचा गया है। संक्षेप में रिचर्ड्स ने तीन प्रकार के विभ्रमों का उल्लेख किया है –

1.कुछ लोग सम्प्रेषण का अर्थ अनुभूतियों का वास्तविक स्थानान्तरण या संक्रमण समझते हैं। जैसे किसी व्यक्ति की जेब का सिक्का, दूसरे व्यक्ति की जेब में चला जाता है। रिचर्ड्स को अनुभवों के प्रत्यक्ष स्थानान्तरण की यह अवधारणा किसी भी स्तर पर मान्य नहीं है। रिचर्ड्स ने अन्यत्र स्पष्ट कहा है कि ऐसा कुछ भी नहीं होता।

2.दूसरा विभ्रम रिचर्ड्स के अनुसार विलियम ब्लेक जैसे रहस्यवादियों का है। इस रहस्यपरक व्याख्या पद्धति के अनुसार, अनिर्वचनीय शक्ति या सत्ता के रूप में एक ही मन: स्थिति, कभी एक मन को, कभी दूसरे मन को तो कभी एक ही साथ अनेकजनों को व्याप्त कर लेती है।

3.कुछ अन्य लोगों के अनुसार, सम्प्रेषण का आधार मन की व्यापक सत्ता है, मनुष्य के मन का क्षेत्र इतना विस्तृत (घेरनेवाला) है कि एक मन का अंश दूसरे तक पहुँचकर उसका अंग बन जाता है। इस तरह मन का मन में परकाया प्रवेश होता है। अर्थात एक ही मन की सत्तामूलकता के विविध पक्ष अलग-अलग रूपों में प्रतिभासित होते हैं।

उक्त व्याख्या-पद्धति को रिचर्ड्स सिरे से नकारते हैं और उन्हें अतिप्राकृत, अनुभवातीत, अवैज्ञानिक या अनभिज्ञेय कहते हैं। उनका स्पष्ट अभिमत है कि वैज्ञानिक व्याख्या-पद्धति के निर्माण में उपर्युक्त अवधारणा का कोई स्थान नहीं है।

5.7. सम्प्रेषण की प्रविधि

सम्प्रेषण की प्रविधि के बारे में रिचर्ड्स के संश्लेषण के सूत्र स्पष्ट हैं और रिचर्ड्स ने इसे सिद्ध करने के लिए 'एक स्थिति' का रूपक प्रस्तुत किया है। उस 'स्थिति की व्याख्या' में जाने से पहले, यह समीचीन प्रतीत होता है कि हम रिचर्ड्स के संश्लेषण के प्रवेश-बिन्दु को ठीक-ठीक समझ लें। सम्प्रेषण एक जटिल प्रक्रिया है और कम-से-कम दो दृष्टियों से इसकी अलग-अलग कोटियाँ बनाई जा सकती हैं :

(क) एक स्थिति वह है जिसमें दो अनुभूतियाँ कम या अधिक एक-दूसरे के समान हो।

(ख) दूसरी वह है जिसमें दूसरी अनुभूति (ग्राही या पाठक की), कम या अधिक, पहले की अनुभूति (कवि की) पर आधारित हो।

इन स्थितियों को समझाते हुए रिचर्ड्स ने एक रूपक का प्रस्ताव दिया है - मान लें कि 'क' एवं 'ख' दो मित्र हैं और वे किसी रास्ते पर चल रहे हैं और वे किसी न्यायाधीश को गुजरते हुए देखते हैं। व्यक्ति 'क' व्यक्ति 'ख' को टोकते हुए कहता है – 'वह देखो, मुख्य न्यायाधीश जा रहे हैं।' यहाँ व्यक्ति 'ख' का आकस्मिक अनुभव व्यक्ति 'क' पर आधारित है। लेकिन अगर 'ख' व्यक्ति 'क' के साथ नहीं होता और 'क' ने अकेले मुख्य न्यायाधीश को देखा होता तो -

(अ) 'ख' का अनुभव बहुत कुछ स्वयं के द्वारा इसके पूर्व मुख्य न्यायाधीश को देखी गई या सुनी गई स्मृति पर निर्भर होता, और

(आ) शेष अनुभव के लिए उसे 'क' की वर्णन-क्षमता पर निर्भर करना होता। ऐसी स्थिति में यदि 'क' के पास असाधारण वर्णन कौशल न हो और 'ख' के पास असाधारण ग्राह्य-शक्ति व स्मृति न हो, तो दोनों के अनुभव मोटे तौर पर मेल खाएंगे व उनके अनुभवों में समानता होगी । ऐसा भी सम्भव है कि दोनों की अनुभूति में कोई समानता न हो और दोनों में से किसी के पास मुख्य न्यायाधीश के बारे में कोई उल्लेखनीय स्मृति न हो ।

रिचर्ड्स इसके उपरान्त 'सम्प्रेषण की कठिन-स्थिति' की विस्तृत चर्चा क्रमानुसार - 'ए थियोरी ऑफ कम्युनिकेशन', 'द एवेलैबिलिटि ऑफ पोएट्स एक्सपीरियंस', 'टाल्सटॉयस इन्फेक्शन थियोरी' और 'द नार्मलिटि ऑफ द आर्टिस्ट' आदि। अध्यायों में की है।

प्राथमिक स्तर पर रिचर्ड्स का कहना है कि :

- वक्ता-श्रोता के समान अनुभव स्रोतों के बावजूद कठिन स्थितियों में सम्प्रेषण की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि अनुभवों की समानता का किस मात्रा में उपयोग किया गया है।
- कहने का आशय यही है कि यदि विगत अनुभवों का उपयोग किए जाने से सम्प्रेषण में सफलता की सम्भावना अधिक रहेगी, अन्यथा कम रहेगी।
- रिचर्ड्स के अनुसार, सम्प्रेषण की कठिन स्थिति के दो पहलू हैं। पहली स्थिति वह है जिसमें वक्ता को श्रोता के अनुभव के निमित्त (कारणों) को प्रस्तुत और नियन्त्रित करना पड़ता है। दूसरी स्थिति वह है जब श्रोता को अपने विगत और व्यक्तिगत अनुभवों को वर्तमान (पाठ में) के अनुभव में प्रविष्ट होने से रोकना पड़ता है।

अर्थात सम्प्रेषण वहाँ कठिन हो जाता है, जब वक्ता को ही श्रोता के अनुभव के लिए आवश्यक उपादान जुटाने पड़ते हैं और दूसरी तरफ, श्रोता के अपने कुछ विगत अनुभव होते हैं, जो उसकी वर्तमान अनुभूति को बाधित करते हैं; जो अनावश्यक और अनपेक्षित होते हैं। सरल वस्तुओं के लिए सम्प्रेषण आसान होता है, मगर जटिल वस्तुओं के लिए यह उतना आसान नहीं होता। उदाहरण के लिए- दो व्यक्ति किसी प्राकृतिक दृश्य को देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति की जो प्रतिक्रिया होगी, वह समान रूप से दूसरे की

(अधिकतर) नहीं भी हो सकती है। हम इस उद्धरण की अपनी व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं - पहला व्यक्ति कलकल बहते झरने को देखकर जीवन की 'दुर्दमनीय निरन्तरता' के बारे में सोच रहा होगा, तो दूसरा, उसी झरने के किनारे की झाड़ी में खिले हुए फूल को देखकर जीवन की क्षणभंगुरता के बारे में सोच रहा हो सकता होगा।

- सम्प्रेषण की कठिन स्थितियों में प्रेषण के साधन भी अनिवार्यत: और अनुरूपेण जटिल हुआ करते हैं। किसी शब्द का प्रभाव अपने सहवर्ती शब्दों के लिए भी अलग-अलग हो जाता है तो दूसरी तरफ, अस्पष्ट वस्तु भी उचित प्रकरण के कारण सुनिश्चित, स्पष्ट और उद्भासित हो उठती है।
- अर्थात एक तत्त्व का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है।
- इसी उपक्रम में रिचर्ड्स का एक मन्तव्य मननीय और मानकीय है - कठिन और गहरे सम्प्रेषण की स्थितियों की दृष्टि से काव्य को गद्य की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त है, चूंकि काव्य, गद्य की अपेक्षा, सम्प्रेषण का जटिल साधन है।
- रिचर्ड्स सम्प्रेषण की कठिनाई और गहराई में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं स्वीकारते। सम्प्रेषण की गहराई का अर्थ यह है कि अन्तर्वस्तु या कथन में जिन अनुक्रियाओं की अपेक्षा रहती है, वे पूर्णरूपेण प्रतिफलित हो। रिचर्ड्स कहते हैं कि जहाँ केवल अभ्युद्देशन (नोटिफिकेशन) ही किया जाता है, वहाँ सम्प्रेषण का गहरा रूप उपलब्ध नहीं होता।

5.8. सम्प्रेषण के लिए कलाकार की अपेक्षित योग्यताएँ

रिचर्ड्स के अनुसार वक्ता की आसाधारण योग्यता का अर्थ है कि वह अनुभव की विगत समानता का उपयोग करता है। श्रोता की असाधारण ग्रहण-शक्ति का अर्थ है, उसमें विवेक और व्यंजना शक्ति की उपस्थिति। इसके साथ ही रिचर्ड्स इन दो तथ्यों की चर्चा करते हैं –

(क) विगत अनुभवों को बिना एक-दूसरे से उलझाए उनका मुक्त और स्पष्ट पुनरुत्थान।

(ख) अनावश्यक व्यक्तिगत ब्यौरों तथा आकस्मिकताओं पर नियन्त्रण।

उल्लेखनीय है कि रिचर्ड्स शायद पहले समीक्षक हैं, जिन्होंने भावक या पाठक की अर्हताओं पर विचार किया। हालाँकि रिचर्ड्स ब्यौरेवार भावक की योग्यता के रूप में निम्नलिखित गुण गिनाए हैं - साहस, सद्भावना, अनुचित अहंकार का अभाव, ईमानदारी, मानवीयता, उच्चतर अर्थ में विनम्रता, विनोदवृत्ति, सहनशीलता और उत्तम स्वास्थ्य। यद्यपि रिचर्ड्स ने इन बहुचर्चित मानवीय सद्गुणों की विस्तृत सिद्धान्त मूलक व्याख्या नहीं की है।

भावक की अपेक्षित योग्यताओं की चर्चा करते हुए रिचर्ड्स ने जिस शब्दबन्ध का सर्वाधिक प्रयोग किया है, वह है - अतीत के अनुभवों की सुलभता। रिचर्ड्स के अनुसार यही सबसे वांछनीय तत्त्व है। 'सुलभता' का रहस्य यह है कि रचनाकार पर बाह्य प्रभाव पड़ता है और वह उन्हें आसानी से विन्यस्त कर पाता है। वह इन प्रभावों को मुक्त रूप से सुरक्षित रख पाता है और बड़ी सहजता के साथ इनसे नए सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। किसी सामान्य व्यक्ति की तुलना में किसी रचनाकार (कवि) की सबसे बड़ी खूबी यही है। कवि अपने अनुभवों के विविध तत्त्वों में सूक्ष्म, स्वतन्त्र और व्यापक ढंग से सम्बन्ध स्थापित कर पाता है।

कहना न होगा कि सम्प्रेषण के बारे में रिचर्ड्स की यह स्थापना सर्वथा मौलिक और निजस्व है। अतीत के अनुभव से प्राप्ति और उसकी सुलभता, दोनों भिन्न वस्तु है। बहुत सारे व्यक्तियों में बहुत सारी अच्छी स्मृतियाँ होती हैं, परन्तु वे इस वरदान का लाभ नहीं उठा पाते। अनुभव की प्राप्तिमूलक और आवृत्तिमूलक अवधारणा मात्र, सम्प्रेषण के लिए लाभकर न होकर एक बुराई ही है, क्योंकि इसके कारण आवश्यक और अनपेक्षित अनुभवों में विच्छेद करना मुश्किल हो जाता है।

रिचर्ड्स का कहना है - जिन लोगों का अतीत सम्पूर्ण रूप से उनके पास लौट आता है, उनके लिए पागलखाने जाने की सम्भावना अधिक रहती है। व्यतीत के अनुभव की सुलभता के सन्दर्भ में रिचर्ड्स का दूसरा महत्त्वपूर्ण पदबन्ध है - व्यतीत के अनुभव का मुक्त पुनरुत्पादन। किसी अनुभव का स्मरण मात्र ही पुनरुत्पादन नहीं है, और यह भी नहीं कि वह अनुभव कब, कहाँ और किस प्रकार घटित हुआ था।

मुक्त पुनरुत्पादन का अर्थ है- उस विशिष्ट मन:स्थिति को सुलभ बना लेना। रिचर्ड्स स्वीकारते हैं कि क्यों कुछ अनुभव सुलभ होते हैं और कुछ नहीं होते, इसके बारे में वैज्ञानिक ढंग से कहना मुश्किल है। लेकिन कोई अनुभव 'मुक्त पुनरुत्पादन' के लिए कहाँ तक सक्षम या अर्हता सम्पन्न है - यह मुख्यत: इस बात पर निर्भर करता है कि विगत दौर में कौन-से आवेग और अभिरुचियाँ उसमें सक्रिय थीं। उल्लेखनीय है कि जब तक समान अभिरुचियाँ और आवेग सक्रिय न हों - अनुभव का पुनरुत्पादन कठिन होता है। अतएव 'अनुभव' महत्त्वपूर्ण नहीं है, अनुभव में निहित आवेग महत्त्वपूर्ण है। अनुभव के पुनरुत्पादन की पहली शर्त यही है कि समान आवेग घटित हो। जिन अनुभवों के आवेगों में सरलता होती है, उनमें पुनरुत्पादन की सम्भावना प्रायः कम होती है। जिनमें आवेगों की जटिलताएँ अधिक होती हैं, उनमें पुनरुत्पादन की क्षमता अधिक होती है।

इसी उपक्रम में रिचर्ड्स की तीसरी मौलिक स्थापना है - जिन अनुभवों में अधिक व्यवस्था रहती है, उनके पुनरुत्थान की अधिक सम्भावना रहती है। जिनमें उलझन और सम्भ्रम अधिक रहते हैं, उनके पुनरुत्पादन की सम्भावना कम रहती है। रिचर्ड्स के अनुसार एक कलाकार को एक भावक के रूप में विचार करना सबसे लाभप्रद है, लेकिन वह स्वयं को शायद ही इस रूप में देखता है। एक कलाकार अपनी कला में सम्प्रेषण की योग्यता लाने के लिए सजग और सतर्क होकर अलग से कोई प्रयत्न नहीं करता।

5.9. कलाकार की सामान्यता का सिद्धान्त

सफल सम्प्रेषण के लिए कवि की दूसरी अर्हता है – सामान्यता। सम्प्रेषण की विफलता का अर्थ है - सम्प्रेषित होनेवाली अनुभूतियों का भावक की अनुभूतियों से मेल नहीं खाना। संक्षेप में, सामान्यता के सिद्धान्त की स्थापनाएँ इस प्रकार है :

- सफल सम्प्रेषण के लिए सभी भावकों में, अपने प्रभावशील उद्दीपनों के साथ, कुछ आवेगों का सामान्य रूप में रहना आवश्यक है। किस प्रकार एक आवेग दूसरे आवेग को प्रभावित और परिवर्तित करता है, इस दृष्टि से भी उनमें समानता होनी चाहिए।
- उद्दीपनों के अभाव में कुछ और आवेग उत्थित हो सकते हैं। रिचर्ड्स ने इन आवेगों को 'कल्पनायुक्त आवेग' कहा है। उनके अनुसार, इनके लिए मूर्ति विधान अनिवार्य नहीं होता।

- रिचर्ड्स का स्पष्ट अभिमत है कि सम्प्रेषण का प्रयोजन कल्पना के उत्थित-पक्ष से नहीं बल्कि कल्पना के निर्माण पक्ष से अधिक है।
- सम्प्रेषण के लिए अतीत के अनुभव की अपेक्षा वर्तमान का अनुभव कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। कई बार यह होता है कि किसी जबरदस्त संवेग के प्रभाव में जो दृश्य देखा गया था, वही दृश्य मनोदशा बदल जाने पर बहुत बदला हुआ मालूम पड़ता है। इस तरह, कल्पना की निर्माण प्रक्रिया में वर्तमान स्थिति का हाथ अतीत की अपेक्षा, जो कि कल्पना का उद्गम स्रोत होता है, कम नहीं होता।
- सम्प्रेषण की कठिन स्थिति में, कलाकार के पास कुछ ऐसे साधन होने चाहिए जिसके द्वारा वह –

(क) भावक के अनुभव का एक अंश नियन्त्रित कर सके, और

(ख) ऐसी आवृत्ति को अवसर न मिले, जो व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग हो।

- प्रत्येक कला के आधार के रूप में सामान्यतया एकरूप आवेगों का टाइप पाया जाना चाहिए, जो एक बाहरी ढाँचा बना सके और जिसके अन्दर शेष अनुक्रियाएँ विकसित या क्रीड़ारत हों।
- कला के रूपतत्त्व ऐसे उद्दीपनों को प्रस्तुत करते हैं, जिनके ऊपर भावकों की अनुक्रियाओं की एकरूपता के लिए निर्भर हुआ जा सकता है।
- रिचर्ड्स के अनुसार, सामान्यता अर्थात सामान्य होने का अर्थ मानक होना है, न कि औसत। सम्प्रेषण के अर्थान्वेषण प्रकल्प में मानक और औसत की द्विभाजकता रिचर्ड्स की मौलिक स्थापना है।

औसत लोगों से कलाकार का कितना और कैसा अन्तर होना चाहिए –

मूल्यविवेचन के तहत रिचर्ड्स ने इसकी व्याख्या की है। अगर किसी कलाकार की मनोव्यवस्था इतनी उत्केन्द्रित और विलक्षण है कि वहाँ तक आम लोगों की बिल्कुल पहुँच न हो, तो हमें उसकी उपेक्षा करनी चाहिए; भले ही उसकी मनोव्यवस्था स्वयं में बहुत अच्छी हो। उनका स्पष्ट कहना है कि जिन मन:स्थितियों तक सामान्य व्यक्ति की पहुँच नहीं होती, वे प्राय: किसी न किसी स्तर पर दोषग्रस्त होती है।

5.10. **सम्प्रेषण की सीमाएँ**

रिचर्ड्स के अनुसार 'कविता में बुराई' (कविता में त्रुटि) के दो अलग-अलग पक्ष हैं - एक उसका मूल्य पक्ष है, तो दूसरा उसका सम्प्रेषण पक्ष। कभी तो कविता इसलिए बुरी होती है कि उसका सम्प्रेषण पक्ष त्रुटिपूर्ण है और कभी तो इसलिए कि जिस अनुभूति का वह सम्प्रेषण कर रही है, वह कमतर, अश्रेयमूलक या दोषयुक्त है; कभी वह दोनों दृष्टियों से बुरी होती है। सम्प्रेषण की दृष्टि से दोष युक्त रचना को रिचर्ड्स खराब कविता न कहकर त्रुटिपूर्ण कविता कहते हैं। सम्प्रेषण की दृष्टि से कामयाब होते हुए भी अनुभूति के मूल्य की दृष्टि से निकृष्ट कवि को रिचर्ड्स बुरी रचना कहते हैं। उसी प्रकार, किसी पापुलर कवियत्री एला व्हीलर विल्कॉक्स की एक कविता को पूर्णरूपेण उद्धृत कर उन्होंने विस्तार पूर्वक दिखाया है कि यहाँ सम्प्रेषण की दृष्टि से तो सफलता है, मगर अनुभूति का मूल्य कमतर या नगण्य है। यहाँ हम अधुनातन हिन्दी फिल्मी गीतों के एकांश को समक्ष रखकर इस तथ्य को समझ सकते हैं। ये गीत सम्प्रेषण की दृष्टि से तो सफल होते हैं, लेकिन अनुभूति के मूल्यवान होने की दृष्टि से नहीं। उल्लेखनीय है कि रिचर्ड्स ने इसी आधार पर 'पॉपुलर लिटरेचर' (लोकप्रिय साहित्य) के कारक-तत्त्वों पर विचार किया है। यहाँ कहना ही पड़ता है कि रिचर्ड्स

शायद पहले समीक्षक हैं, जिन्होंने लोकप्रियता के आधार को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है और इसके लोक-मानस की मनोव्यवस्था की व्याख्या की है।

लोकप्रियता के रहस्य की व्याख्या करते हुए रिचर्ड्स ने मनुष्य की बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था तक के भावनात्मक विकास पर प्रकाश डाला है । दस वर्ष तक कोई बालक संचित अभिवृत्तियों से अनजान व अपरिचित रहता है । पर चिन्तन की शक्ति के विकासक्रम में, अनुभवों की प्रत्यक्ष सक्रियता का स्थान अभिवृत्तियाँ ले लेती हैं। दीर्घकालिक चिन्तन के अभाव में अभिवृत्तियाँ निश्चल हो जाती हैं। हम अनुभव से हटकर अभिवृत्ति में निवास करने लगते हैं। किसी भी अभिवृत्ति के विकास में अनेक क्रमिक स्थितियाँ होती हैं, इन्हें रिचर्ड्स अभिवृत्ति का विश्राम विन्दु कहते हैं । इन्हें पार करना हर एक मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता, अतएव वे अभिवृत्तियाँ अनगढ़, अपूर्ण और अविकसित रह जाती हैं। तभी अभिवृत्तियों से तर्क गायब होने लगते हैं और वे उन्हें वास्तविकता से दूर ले जाती हैं । फलतः अधिकांश व्यक्ति इन 'अभिवृत्तियों के अपूर्ण' गृह में निवास करते हैं।

अभिवृत्तियों के स्थिरीकरण (गतिहीनता) के बहुत सारे घाटे हैं । वह व्यक्ति तथ्यों का सामना करने में असमर्थ होता है और फिक्शन की दुनिया में जीता है । इस काल्पनिक जगत का निर्माण उसकी संचित मानसिक अनुक्रियाओं के प्रक्षेपण द्वारा होता है। इन्हीं संचित अनुक्रिया की सहायता से लोकप्रिय लेखक विजयी बनता है। अभिवृत्तियों की निश्चलावस्था या विरामावस्था का स्पर्श करने वाली रचनाएँ लोकप्रिय हो जाती हैं, लेकिन 'आनन्द' को ही कविता का मूल मानने वाले रिचर्ड्स का स्पष्ट अभिमत है कि ऐसी रचनायें निरर्थक या हीन नहीं होतीं। लेकिन सच्चाई तो यह भी है कि कोई पाठक अगर गुलशन नन्दा के 'झील के उस पार' पढ़ लेने के बाद 'बाणभट्ट की आत्मकथा' या शेखर जोशी की कहानी 'कोसी का घटवार' पढ़ लेता है तो उसके स्टाक रेसपांस के बन्द दरवाजे खुलने लगते हैं, उसकी अचल अभिवृत्तियाँ सचल हो जाती हैं और उसके लिए पीछे लौटना (गुलशन नन्दा की तरफ) असम्भव हो जाता है । रिचर्ड्स का यह 'निश्चल अभिवृत्तियों की संचित अनुक्रिया' (स्टाक रेसपांस) का प्रावधान सम्प्रेषण सिद्धान्त के एक मौलिक प्रसंग को जोड़ता है । इस उपक्रम में रिचर्ड्स की मूल स्थापना है कि कला के सम्प्रेषण पक्ष और मूल्य पक्ष में स्पष्ट अन्तर रखना चाहिए। यदि कोई कविता सम्प्रेषण के स्तर पर पूर्णत: विफल हो, फिर भी उसके मूल्य पक्ष की हम अवहेलना नहीं कर सकते।

5.11. **सारांश**

इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों में डॉ. आइ. ए. रिचर्ड्स का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है और उसने आंग्ल साहित्य में वैज्ञानिक आलोचना पद्धति का उन्मेष कर काव्य जगत में 'कला कला के लिए' काव्य में अभिव्यंजनावाद तथा साहित्य में रहस्यवादी आदि वायवी मूल्यों का विरोध करते हुए, आलोचना को एक वैज्ञानिक चिंतन प्रक्रिया का स्वरूप प्रदान किया। सत्य तो यह है कि उसने पहली बार हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि 'आलोचक रचना में रचनाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व विभिन्न तत्व से निर्मित एकीकृत मूल्यवान अनुभव तथा अन्य कलात्मक संयोजना से उत्पन्न सहज अभिव्यक्ति तथा उसमें आलोचक की स्वयं की संवेदनात्मक परितृप्ति आदि विभिन्न पक्षों का सम्यक अध्ययन कर उनका एक तटस्थ

विश्लेषण प्रस्तुत करता है।' पूर्व प्रचलित प्रेषणीयता शब्द की नवीन व्याख्या करते हुए रिचर्ड्स ने कहा है कि प्रेषणीयता कोई अद्भुत या रहस्यमय व्यापार नहीं है, अपितु मन की एक सामान्य क्रिया मात्र है।

प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्राय: एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं। जब किसी वातावरण विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया के प्रभाव से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है जो कि पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है, तो उसे प्रेषणीयता कहते है। वस्तुतः किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूत करना ही प्रेषणीयता है। कवि कलाकार या सर्जक की अनुभूतियों का भावक द्वारा अनुभूत किया जाना ही सम्प्रेषण है। रिचर्ड्स के मतानुसार सम्प्रेषण के लिए तीन बातें आवश्यक है -

1. कलाकृति की प्रतिक्रियाएँ एकरस हों।

2. वे पर्याप्त रूप से विभिन्न प्रकार की हों।

3. वे अपने उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न किए जाने योग्य हों।

उन्होंने स्पष्ट किया कि कला में प्रेषणीयता आवश्यक है, किन्तु कलाकार को इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। कलाकार जितना सहज एवं स्वाभाविक रूप में अपना कार्य करेगा, उसकी अनुभूतियाँ उतनी ही सम्प्रेषणीय होंगी। सम्प्रेषण तभी पूर्णता से होता है, जब विषय रोचक और रमणीय होता है।

5.12. बोध प्रश्न-

1. आई. ए. रिचर्ड्स का व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में बताइए।
2. संप्रेषण-संप्रेषण का अर्थ और स्वरूप को बताते हुए संप्रेषण की प्रविधि को स्पष्ट कीजिए।
3. संप्रेषण के लिए कलाकार अपेक्षित योग्यताएँ और कलाकार की मान्यता का सिद्धांत को स्पष्ट रूप से बताइए।

सहायक ग्रंथ

1. पाश्चात्य काव्य शास्त्र, देवेन्द्र नाथ शर्मा, नेशवल पब्लिशिंग हाउस, 1992
2. पाश्चात्य साहित्य चिंतन, निर्मला जैन, कुसुम बाठिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1990 प्रथम संस्करण।
3. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की इतिहास संवाद और वाद, डॉ. भगीरथ मिश्र, वाराणसी।

डॉ. सूर्य कुमारी. पी.

6. टी. एस. इलिएट

6.0.उद्देश्य

उद्देश्य : - इस पाठ के माध्यम से हम समझ सकेंगे -

1) टी. एस. इलिएट द्वारा प्रस्तावित सिद्धांतों की अवधारणा समझ सकेंगे।
2) टी. एस. इलिएट परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा की अवधारणा को समझ सकेंगे तथा उसके विविध पक्षों पर विचार कर सकते हैं।
3) टी. एस. इलिएट संवेदना की निस्संगता की अवधारणा के बारे में ज्ञान पाएंगे।
4) इलिएट के प्रस्तावित वस्तुनिष्ठ समीकरण को ज्ञान पाएंगे।
5) इलिएट की आलोचना दृष्टि को विस्तार से ज्ञान पाएंगे।

6.1.प्रस्तावना

6.2. (टी. एस. इलिएट) का जीवन परिचय

6.3. इलिएट की रचनाएँ

6.4. परंपरा की अवधारणा

6.5. परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा

6.6. वस्तुनिष्ठ समीकरण

6.7. निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

6.8. सारांश

6.1.प्रस्तावना :-

प्रस्तुत इकाई बीसवीं सदी के अत्यंत महत्वपूर्ण आलोचक टी. एस. इलिएट से संबंधित है। इलिएट आधुनिक पाश्चात्य जगत में रचनाकार और आलोचक दोनों के रूप में एक युगांतकारी व्यक्तित्व के रूप में उभरे है। बीसवीं सदी की भयंकर त्रासदी - दो विश्व युद्धों के बीच सृजन और चिंतन में सक्रिय इलिएट परंपरा और आधुनिकता के संबंध को नए अर्थ- संदर्भ प्रदान करते हैं। इस पाठ के माध्यम से आप साहित्यिक चर्चा में आधुनिकता और परम्परा का सम्मेलन अंग्रेजी साहित्य में प्रस्तुत करने वाले कवि आलोचक टी. एस. इलिएट ने आधुनिकता को परम्परा विरोधी नहीं माना तथा किस प्रकार से उन्होंने स्वच्छन्दता विरोधी काव्य-विवेचन प्रस्तुत करने के बावजूद परम्परा के परिप्रेक्ष्य में ही किसी समकालीन रचनाकार के तुलनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन का प्रस्ताव किया गया है। इन सभी प्रसंगों को हम इस पाठ के माध्यम से समझ सकेंगे।

6.2. (टी. एस. इलिएट) का जीवन परिचय :- (व्यक्तित्व)

टी. एस. इलिएट (Thomas Stearns Eliot) का जन्म 26 सितंबर 1888, में सेंट लुइस, संयुक्त अमेरिका में हुआ। इलिएट ने आरंभिक शिक्षा के बाद 1911 से 1914 तक हार्वर्ड में संस्कृत और पाली भाषा का अध्ययन किया। 26 वर्ष की आयु में अमेरिका छोडकर इंग्लैंड में बस गए और 1927 में ब्रिटिश

नागरिक बन गए। टी. एस. इलिएट कवि और आलोचक दोनों ही रूपों में आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में विख्यात है। इनके काव्य और चिंतन में एक-रूपता मिलती है। अपने आलोचनात्मक निबंधों में इन्होंने जिन काव्यगत विशेषताओं और सिद्धांतों का उल्लेख किया है। उन्हीं को इन्होंने अपने काव्य में व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार इनके इतिहास और संस्कृति संबंधित विचार इनकी कविता और आलोचना से ध्वनित हुए हैं। इलिएट ने साहित्य में चले आ रहे स्वच्छन्दतावाद के दीर्घकालीन आधिपत्य को अस्वीकार करते हुए कला सिकल मत का प्रतिपादन किया तथा कला के मूर्तरुप को विशेष महत्व देते हुए कला को कलाकार का आत्म प्रकाशन मात्र मान ने वाले सभी सिद्धांतों की विस्तृत आलोचना की। 1948 में इन्हें नोबेल पुरस्कार (साहित्य) से सम्मानित किया गया। इनकी मृत्यु 4 जनवारी 1965 केसिंग्टन लंदन, यूनाइटेड किंगडम में हुई।

6.3. इलिएट की रचनाएँ :

काव्य संग्रह : - 1) प्रफ्रैक ऐंड अदर आब्जॉरवेशस (1917)
2) द वेस्टलेंड (1922)
3) ऐश वेन्सेड (1930)
4) फोर क्वार्टेट्स (1944)

आलोचना : - 1) द सैक्रोड वुड (1920)
2) द यूस ऑव पोयट्री ऐंड द यूस ऑव क्रिटिसिजम (1933)
3) आन पोएट्री ऐंड पोएट्स (1957)

नाटक : - 1) मर्डर इन द कैथड्रिल (1935)
2) फैमिली रियूनियन (1939)
3) द काकटेल पार्टी (1950)
4) द कान्फिडेंशल क्लाक (1955)
5) द एल्डर स्टेट्समैन (1958)

टी. एस. इलिएट बीसवीं सदी के महत्वपूर्ण अंग्रेजी कवि-आलोचक है। वे अंग्रेजी कविता के महत्वपूर्ण आधुनिक कवि है। इलिएट ने अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी कवियों तथा आलोचकों में वर्ड्सवर्थ एवं कॉलरिज की काव्य संबंधी स्थापनाओं के विरुद्ध स्वच्छन्दतावादी विरोधी स्थापनाओं के लिए जाने जाते हैं। इलिएट ने अंग्रेजी कविता एवं आलोचना में आधुनिकता का पथ प्रदर्शन किया तथा अंग्रेजी आलोचना की स्थापनाओं के विरुद्ध नई मान्यताएँ प्रस्तुत की। इसके अलावा उन्होंने अंग्रेजी के महान रचनाकारों का जैसे शेक्सपीयर, मिल्टन तथा बेन जानसन आदि का पुनर मूल्यांकन किया। इलिएट ने आलोचना के कुछ सिद्धांत निर्मित किए जिनमें परंपरा की अवधारण परंपरा और वैयाक्तिक प्रज्ञा, वस्तुनिष्ठ समीकरण तथा निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत आदि प्रमुख हैं। इस पाठ के माध्यम से टी. एस. इलिएट के प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा की जाएगी।

6.4. परंपरा की अवधारणा :

टी. एस. इलिएट ने परम्परा को आधुनिकता के संदर्भ में रखकर देखा और उसका मूल्यांकन किया। टी. एस. इलिएट की परम्परा की अवधारणा को जानने से पहले परम्परा की सामान्य समझ को जानते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य अर्थों में जब हम परम्परा की बात करते हैं तो हम इससे क्या समझते है? परम्परा वास्तव में एक समाजशास्त्री पद है। सामान्य रूप से जब हम परम्परा शब्द का उपयोग कतने हैं तब हमारा आशय होता है कि अतीत से चली आ रही प्रथाएँ, रीति-रिवाज किन्तु किसी भी अर्थ में परम्परा से हमारा तात्पर्य रूढ़ियों से नहीं होता। हमारा अर्थ होता है कि लम्बे समय से जो आचार-व्यवहार हम कर रहे हैं वह हमारी परम्परा है। दूसरी तरफ हम परम्परा को समझने के लिए समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण को समझ सकते हैं। इसमें समाज-शास्त्रियों के संदर्भ को ध्यान में रख सकते है जिनमें भारतीय समाजशास्त्री श्यामचरण दूबे के अनुसार "परम्परा संस्कृति का वह भाग है जिसमें भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक निरन्तरता बनी रहती है" । इसका अभिप्राय यह है कि परम्परा अतीत की कोई स्थिर इकाई नहीं है अपितु इसमें निरन्तरता बनी रहती है। इसी निरन्तरता के कारण परम्परा में जड़ता नहीं आती और वह अतीत तथा वर्तमान दोनों से जुड़ी रहती है। टी. एस. इलिएट के मतानुसार "परम्परा एक बृहत्तर प्रयोजन की वस्तु है। इसमें सबसे पहले इतिहास बोध शामिल होता है और इतिहास बोध में एक दृष्टि निहित रहती हैं जो न केवल अतीत के अतीत (Pastness) की अपितु उसकी वर्तमानता का भी।" इलिएट के इस मन का अभिप्राय यह है कि परम्परा का न केवल एक उद्देश्य होता है अपितु उसका एक बड़ा लक्ष्य होता है। यह इतिहास बोध से जुड़ा होता है और जब इतिहास बोध का अध्ययन किया जाता है तब न केवल इतिहास के ऐतिहासिक घटनाक्रम अर्थात् अतीत की चर्चा होती है अपितु उसकी वर्तमानता की भी चर्चा होती है। परम्परा के संदर्भ में टी. एस. इलिएट की मान्यताओं के कई आयाम है जिसमें वैयक्तिक प्रतिभा के विभिन्न पथ्तों का विश्लेषण शामिल है।

6.5. परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा :-

टी. एस. इलिएट की समस्त आलोचना दृष्टि का आधार है उनका निबंध परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा (ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेन्टे) आधुनिक आलोचना में परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा के रचनात्मक संबंध का यह प्रभावशाली चिंतन यूरोप के बौद्धिक परिवेश की चुनौती से जन्मा है। इलिएट को गहरी जड़ों और परम्परा में रूढ़ि और मौलिकता के स्पष्ट भेद की चिंता भी ताकि वह सभ्यता के संकट को उसके मूलभूत दायरे में समझकर व्याख्यायित कर सके। "आफ्टर स्ट्रेन्ज गॉड्स" में इलिएट ने कहा है कि 'किन्हीं मताग्रही विश्वासों को पूर्ण रूप से या प्रधान रूप से बनाए रखना ही परम्परा नहीं है, ये विश्वास तो परम्परा के निर्माण क्रम में रूप ग्रहण करते हैं। परम्परा से जो मेरा अभिप्राय है उसमें बहुत कुछ शामिल है। उसमें वे अभ्थासजन्य क्रियाकलाप आदतें और रीति-रिवाज अत्यंत महत्वपूर्ण धार्मिक कर्मकांडों से लेकर किसी अजनबी को अभिवादन करने के हमारे परम्परागत तरीके भी शामिल है जो एक ही स्थान पर बसे जन-समुदाय के बीच रक्त संबेधों को प्रकट करते हैं। (Tradition is not solely, or even primarily the maintenance of Certain dogmatic beliefs. These beliefs have come to take their living from in the course of the formation of a tradition. what I mean by tradition involves all Those habitual actions. habits and Customs from the most significant

religious rites to our conventional way of greeting a stranger which represent the blood Kinship of the same people living in a same place) इलिएट के लिए परम्परा के व्यापक अर्थ के साथ एक संकुचित अर्थ भी था। यूरोपीय परम्परा के अंतर्गत ईसाई धर्म परंपरा के विश्वास। संक्षेप में इलिएट की परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा संबंधी मान्यताओं को इस प्रकार देखा जा सकता है-

1) यूरोपीय परम्परा पर विचार करते हुए इलिएट का यह मन बना कि प्रत्येक राष्ट्र प्रत्येक प्रजाति की अपनी सर्जनात्मकता ही नहीं आलोचनात्मक मानसिकता भी हुआ करती है। (Every nation every race has not only its own Creative, but its own critical turn of mind).

2) किसी रचनाकार की महत्व प्रतिष्ठा करते समय हम प्रायः उसकी वैयक्तिक विशिष्टताएँ खोजकर दिखाने का प्रयत्न करते हैं। उसके पूर्ववर्ती कवियों से उसकी भिन्नता को पहचानने में ही हमें प्रसन्नता होती है। किन्तु यदि हम ठीक से खोज-बीन करें तो पाएंगे कि किसी कवि की स्थान के श्रेष्ठ ही नहीं सर्वथा वैयक्तिक पद भी वही होते हैं जिनमें उसके पूर्ववर्ती रचनाकारों का प्रभाव प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ होता है। जाहिर है कि 'व्यक्तिगत प्रज्ञा' परम्परा से विच्छिन्न, निरपेक्ष या असंबंध वस्तु नहीं है। परंपरा से गहरे अर्थों में जुड़कर ही कवि अपनी वैयक्तिक सामर्थ्य को अधिक प्रभावी रूप में उजागर कर सकता है। हिन्दी में तुलसी दास और निराला इसके अच्छे उदाहरण है कि कैसे राम काव्य परंपरा से जुड़कर इन कवियों ने 'रामचरितमानस' और राम की शक्ति पूजा' को नूतन काव्योत्कर्ष में ढाल दिया। इन कृतियों में 'वैयक्तिक प्रज्ञा' के प्रस्फुटन में परम्परा बाधक न बनकर सहायक सिद्ध हुई है।

3. रचनाकार के लिए परंपरा साँस की तरह सहज स्वाभाविक अनिवार्य और नैसर्गिक क्रिया है। कुछ भी सोचने-सुनने- पढ़ते समय उसके गुण- दोषों का अहसास मानव विवेक स्वयं करता चलता है। अभिव्यक्ति या रचना प्रक्रिया में कभी परंपरा मौन होती है कभी मुखर। कभी टकराहट संघर्ष की मुद्रा में होती है, कभी विपरीत दिशा में। लेकिन परम्परा का रचनाकार के साथ एक संघर्ष - संवाद बराबर चलता रहता है।

4) परम्परा के प्रति गहरे लगाव का अर्थ हठधर्मिता या अंधानुकरण एकदम नहीं है। अंधानुकरण से मौलिकता नष्ट हो जाती है। परम्परा की व्यापक अर्थवाला तो सृजन कर्म की नवीनता- मौलिकता में ही प्रतिफलित होती है। इलिएट ने जोर देकर कहा कि परम्परा को दाय या विरासत के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता उसकी प्राप्ति के लिए कठोर तप-साधना या श्रम आवश्यक हैं। ('Traditions a matter of much wider significance, It can. not be inherited, and if you want you must obtain it by great labour'- The Sacred wood

5. परम्परा का अर्थ है - इतिहास बोध (historical Sense) कवि में इतिहास बोध होना चाहिए। इतिहास बोध से तात्पर्य अतीत के अतीतत्व का ही नहीं है,अपितु उसकी वर्तमान का भी है। (Perception, not only of the pastness of the past but of its presence) 's इतिहास बोध अपनी पीढ़ी के रचना कर्म को ध्यान में रखकर लिखना नहीं है, बल्कि उसमें होमर-वर्जिल से लेकर पूरे यूरोप के साहित्य साथ ही अपने देश के समग्र साहित्य दोनों का अस्तित्व हुआ करता है। हिन्दी में ऐसा ही परम्परा को कमाने का परिश्रम जयशंकर प्रसाद और अज्ञेय के सृजन कर्म में दिखाई देता है। इलिएट यदि अपने सृजन में अपने पुरखों - होमर आदि को बोलने पाते हैं तो हम प्रसाद जी के सृजन में अपने वैदिक ऋषियों की वाणी की अनुगूँज सुनते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि अज्ञेय को एव टी. एस. इलिएट के निबंध 'ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेन्ट' का अनुवाद 'रूढ़ि और मौलिकता' नाम से करने की प्रेरणा मिली तो इस प्रेरणा के मूल में अपनी

परंपरा की रूढ़ि या बासीपन को झाड़कर मौलिकता को ग्रहण करने की समस्या थी। यही कारण है कि परम्परा की इलियट समझ ने भारतीय रचनाकार के मन को भी दूर तक छुआ है। कारण यह इतिहास बोध ही है जो कालातीत (Timeless) तथा कालिक (Temporal) का पृथक-पृथक और कालातीत तथा कालिक का युगपद बोध कहा जा सकता है। यही लेखक को परम्परा-सम्मत बनाता है।

6. इलिएट का मानना है कि 'परम्परा' काई मृत वस्तु नहीं है जो भृत या निरर्थक है उसे 'परम्परा' की संज्ञा देना हो समीचीन नहीं है। वस्तुतः परम्परा एक सातत्य है, अविच्छिन्न प्रवाह है जो अतीत के साहित्यिक - सांस्कृतिक दाय अथवा धरोहर या विरासत के उत्तमांश से वर्तमान की सम्पन्न और सार्थक बनाती है तथा भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। इस दृष्टि से परम्परा का विस्तार देश और काल दोनों में होता है।

7. कवि को अतीत या परम्परा का ज्ञान तो होना चाहिए किन्तु यह ज्ञान इतना भारी न पड़े कि कवि चेतना आक्रान्त कर ले। प्रायः बहुत बार अतिशय अतीत ज्ञान के बोझ से काव्य-संवेदना (Poetic Sensibility) या तो निर्जीव हो जानी है या प्रभावहीन होकर बिखर जाती है। कवि के लिए अतीत की चेतना को विकसित करते रहना जरूरी हैं और उसे आजीवन विकसित करना है। कलाकार की प्रगति सतत आत्मबलिदान (Self-Sacrifice) में है, व्यक्तित्व के सतत आत्म समर्पण (Extinction) में है। व्यक्तित्व के इस निर्वयक्तीकरण (Depersonalization) से ही कला ज्ञान की स्थिति को प्राप्त कर सकती है। The Progress an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality. xxx. It is in this depersonalization that art may be said to approach the Condition of the science.

6.6. वस्तुनिष्ठ समीकरण: -

इलिएट ने अपने बहुचर्चित निबंध 'हेम लेट एंड हिज प्रॉब्लम्स' (हेम लेट और उसकी समस्याएँ) में 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' या 'मूर्त विधान' (Objective Correlative) की व्याख्या एवं प्रतिपादन किया है। उनकी 'ऑब्जक्टिव कोरिलेटिव' की अवधारणा को भारतीय काव्यशास्त्र की 'विभावन व्यापार' से संबधित अवधारणा के एकदम निकट माना जाता है। मूलतः यह प्रक्रिया अमूर्त के मूर्त अथवा वैयक्तिक के निर्वैयक्तिक में रूपांतरण की प्रक्रिया है।

रचनाकार जब सृजन कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में कोई न कोई प्रेरक भाव रहता है। किन्तु सृजन के दौरान अनेक सूक्ष्म जटिल भाव संवेदन और विचार परस्पर मिलने-जुलने लगते हैं और सृजन कर्म की अंतिम परिणति तक पहुंचते-पहुँचते न जाने कितने भावों संवेदनों -विचारों का मिश्रण और विलयन हो चुका होता है। मानव अनुभव साक्षी है कि मानव के भाव, संवेदन, विचार ये सभी अमूर्त हैं। अमूर्त को मूर्त या प्रत्यक्ष करना सरल कार्य नहीं है। अमूर्त होने के कारण भावों-संवेदनों आदि की पाठक या प्रेक्षक को प्रत्यय नहीं हो सकती। इसलिए रचना-कर्म में बराबर यह प्रश्न उपस्थित रहता है कि अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कैसे बनाया जाए। कवि मन के भाव-विचार संवेदन को पाठक-पाठक तक संप्रेषित कैसे किया जाए। इसी बुनियादी प्रश्न को इलिएट ने स्वयं झोला है और एक समाधान रूप में 'ऑब्जेक्ट्व कोरिलेटिव' सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। कवि के रूप में इलिएट का अनुभव था कि अमूर्त का संप्रेषण चुनौती भरा कार्य है। ऐसी चुनौती को झेलने वाले कवि के सामने एक ही तरीका है कि वह किसी मूर्त वस्तु की सहायता लेकर अमूर्त को संप्रेषित करने का प्रयास करें। इलिएट का कथन है कि 'कला के रूप में भाव को अभिव्यक्त करने का एक

ही तरीका है और वह तरीका यह है कि ऐसे सह-संबंधी वस्तु या व्यापार (Objective Correlative) जैसे वस्तु समुदाय, परिस्थिति, घटना श्रृंखला को टटोलकर ढूँढ निकाला जाए तो उस विशिष्ट भाव का मूल सूत्र हो । एक ऐसा मूल सूत्र कि जब वे बाहरी तथ्य प्रस्तुत हों तो वे भाव को तत्काल उद्‌बुध्द होते ही उससे संबद्ध वस्तु-व्यापार की उपस्थिति का अहसास अनिवार्यत समाप्त हो जाए । The only way of expressing emotion in the form of cast is by finding a objective Correlative in other words a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotions such that when the external facts, which must terminate in sensory. experience, are given the emotion is immediately evoked'… Selected Essays, p.no.145) इस कथन पर विचार करने पर हम पाते है कि -

1. भाव मूलतः अमूर्त होता है । इसलिए उसकी अभिव्यक्ति किसी मूर्त वस्तु या स्थिति की सहायता से ही संभव है ।

2) जिस भाव की अभिव्यक्ति की ज्ञानी है और जिस वस्तु /व्यापार के माध्यम से यह अभिव्यक्ति की जाती है अनके बीच ऐसा संबंध होना चाहिए कि उस वस्तु के उपस्थित होने पर तत्काल वह भाव अभिव्यक्ति हो सके ।

3. भाव के प्रकृत रूप से सम्बन्ध कोई वस्तु, समुदाय कोई परिस्थिति या कोई घटना-श्रृंखला हो सकती है जिससे उस अमूर्त भाव को मूर्त रूप में अभिव्यक्त और संप्रेषित किया जा सके ।

4. वास्तव में बाध्य वस्तु ही कवि और आस्वादक या पाठक के बीच सूत्र-भाव-तादात्म्य- स्थापित करने में माध्यम की भूमिका का निर्वाह करती है उन्हीं के द्वारा कवि और पाठक एक भाव भूमि पर मिलते हैं ।

5. एक बार भाव के उद्बुध्द होते ही, उससे संबंध वस्तु व्यापार की ऐन्द्रिय- अनुभूति समाप्त हो जाती है ।

विद्वानों का मानना है कि 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' या मूर्त विधान का सिद्धांत इलिएट की मौलिक उद्भावना का प्रतिफल नहीं है । इसका सबसे पुराना संकेत प्रथम बार अरस्तु के चिंतन में मिलता है । तत्पश्चात फ्रांस के प्रतीकवादी भी अपने काव्य में इसी पद्धति का सहारा लेते है । यह भी संभव है कि प्रतीकवादियों से ही इलिएट ने इस मूर्त विधान (वस्तुनिष्ठ समीकरण) की अवधारणा को ग्रहण किया हो क्योंकि दोनों में थोड़ा ही अंतर है । इलिएट वस्तु की व्यंजकता से ज्यादा भाव के साथ उसके सटीक संबंध को महत्व देते हैं जबकि फ्रांस के प्रतीकवादी चिंतक प्रतीक की सटीकता से ज्यादा उसकी व्यंजकता के कायल रहें हैं । आरंभ में यह बताया गया है कि इलिएट का 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' या मूर्त विधान सिद्धांत भारतीय रस सिद्धांत का विभावन व्यापार ही प्रतीत होता है । विभावन व्यापार में किसी भाव को उद्बुद्ध करने में आलम्बन और उद्दीपन विभावों की समान रूप से सार्थकता है । इलिएट ने इस अवधारणा के आधार पर शेक्सपियर के नाटक हेमलेट को एक असफल नाटक माना है । उनका तर्क है कि उसमें नियोजित बाह्य वस्तु-व्यापार, भाव संवेदन को उद्बुध्द करने के लिए अपर्याप्त है । (The Artistic 'Inevitability lies in this complete adequacy of the external to the emotion; and this is precisely what is deficient in Hamlet' S. E PP 145)

अर्थात हेमलेट के भावों-संवेदनाओं के संप्रेषण जैसे विभावन-व्यापार या मूर्त विधान की योजना होना चाहिए थी वैसा नहीं हो पायी । भावाभिव्याक्ति में जो मूर्त विद्यमान अपेक्षित है उसकी कमी रचना को कमजोर बना देता है । हिन्दी में तुलसीदास का 'रामचरितमानस' और निराला की 'राम की शक्ति पूजा

वस्तुनिष्ठ समीकरण' या मूर्त विधान के आदर्श है जिनमें अमूर्त भावों को मूर्त करने में कवियों को अद्भुत सफलता मिली है।

6.7. निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत :

टी. एस. इलिएट 'एजरा पाडण्ड' से विशेष प्रभावित थे। एजरा पाडण्ड की मान्यता थी कि कवि वैज्ञानिक के समन ही निवैयक्तिकना (impersonal) और वस्तुनिष्ठ (Objective) होता है। उसका कार्य आत्मनिरपेक्ष होता है। इलिएट अनेकता को एकता में बांधने के लिए परम्परा को आवश्यक मानने थे। जो वैयक्तिकता का विरोधी है। साहित्य के जीवन्त विकास के लिए वह परम्परा का योग स्वीकार करते है जिससे आत्मनिष्ठ तत्व नियंत्रित होकर वस्तुनिष्ठ तत्व प्रमुख हो जाता है। इलियट ने वस्तुनिष्ठ साहित्य को महत्व दिया तथा कला को निर्वैयक्तिकता घोषित किया।

इलिएट का प्रारंभिक विचार था कि कविता उत्पन्न नहीं की जाती अपितु उत्पन्न हो जाती है, किन्तु बाद में उन्होंने अपने इस विचार को बदलते हुए कहा, कि 'मैं उस समय अपनी बात ठीक ढंग से व्यक्त न कर सका था'।

इलिएट के अनुसार "निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते है एक वह जो 'कुशल शिल्पी मात्र' के लिए होती है और दुसरी वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है। दूसरे प्रकार निर्वैयक्तिकता उस कवि की होती है जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है"। कवि अपनी तीव्र संवेदना एवं ग्रहण क्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियों को इस प्रकार ग्रहण करता है कि वे अनुभूतियां उसकी निजी अनुभूतियां प्रतीत होती। इन अनुभूतियों को वह इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह मन सभी का ग्राहय हो जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसी को साधारणीकरण सिद्धांत भी कहा जाता है।

इलिएट के अनुसार निर्वैयक्तिकता का अर्थ है - कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण। इलिएट ने दो प्रकार की निर्वैयक्तिकता स्वीकार की है- प्राकृतिक और विशिष्ट। प्राकृतिक निर्वैयक्तिकता प्रमुख शिल्पी या कलाकर से संबंधित होती है, जबकि विशिष्ट निर्वैयक्तिकता प्रौढ़ कला कारों द्वारा उपलब्ध की जाती है। इलिएट ने कविता के तीन स्वर नामक लेख में काव्य के तीन स्वर माने है। प्रथम स्वर है- कवि स्वयं से बात करता है, दूसरा है कवि जो है वह श्रोताओं से बात करता है और तीसरा स्वर है- जिसमें वह स्वयं न बोलकर अपने पात्रों के माध्यम से बोलता है। प्रथम प्रकार के स्वर में कवि का लक्ष्य अपने भार से छुटकारा पाना है, क्योंकि बिना कहे वह रह नहीं सकता। उनके अनुसार दूसरे स्वर में कविता किसी सामाजिक उद्देश्य के लिए लिखी जाती है। मनोरंजक, उपदेशात्मक, व्यंग्यपरक साहित्य इसी कोर्ट में आता है। तीसरे स्वर के अन्तर्गत नाटक आते हैं। प्रथम स्वर वाली कविताएँ कवि की अचेतावस्था से उद्भूत होती है, जबकि दूसरे और तीसरे स्वर वाली कविताओं में वह पूर्ण सजग व्यक्तित्व से कृति का निर्माण करता है।

टी. एस. इलिएट की निर्वैयक्तिकता (Depersonalization) से संबंधित धारणा भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धांत के अंतर्गत मिलने वाले सृजन प्रक्रिया के सिद्धांत 'साधारणीकरण' बहुत नजदीक है। किन्तु इलिएट निर्वैयक्तिकता को साधारणीकरण का पर्याय नहीं माना जा सकता है। 'साधारणीकरण' भारतीय दर्शन

की लंबी चिंतन परंपरा का प्रतिफल है जिसकी तुलना में 'निर्वैयक्तिकता सिद्धांत' की दृष्टि काफी हल्की पड़ती है।

इलिएट ने काव्य सृजन में कवि व्यक्तित्व की तात्विक उपस्थिति से अपना विरोध बराबर दर्ज किया है। वे सृजन प्रक्रिया में प्रतिभा अभिव्यक्ति समर्थन नहीं कर सके।

इलिएट के विचार से कविगत भाव और काव्य गत भाव की प्रकृति में मूलभूत अंतर होता है। कविगत अनुभूत भाव की प्रकृति प्रेरक घटना प्रसंगों से निर्धारित होती है जबकि काव्यगत भावों का चरित्र सृजन प्रक्रिया के दौरान सामान्य भावों के विशिष्ट उपयोग से निर्मित सृजित होता है। कवि के द्वारा रचना में ऐसे भावों की सृष्टि भी संभव है जिनका वास्तविक जीवन में अनुभव ही न किया गया हो, कवि के निजगत भावों-अनुभवों की विशिष्टता या असाधारणता कविता में व्यक्त भावों की जटिलता या असाधारणता के लिए एकदम महत्वहीन हो। इलियट ने निभ्रांत शब्दों में कहा है कि कवि अपने व्यक्तिगत भावों के कारण उन भावों के कारण जो उसके जीवन में विशिष्ट घटनाओं या स्थिति परिस्थिति से उद्दीपन प्राप्त करते है, किसी भी रूप में न असाधारण होता है न दिलचस्प। कवि-विशेष के भाव सपाट - सरल हो सकते हैं अनगढ़ हो सकते है। उसका काव्य-भाव बहुत संश्लिष्ट या जटिल होगा किन्तु यह जटिलता उन लोगों के भावों की सी नहीं होगी जिनके भाव जीवन में बहुत जटिल या असाधारण होते हैं। कवि कर्म का क्षेत्र नए भावों की तलाश का क्षेत्र नहीं है बल्कि सामान्य भावों का उपयोग करना और उन्हें कविता का रूप देकर ऐसी अनुभूतियों को प्रकट करता है जो वास्तविक भाव में विद्यमान ही नहीं है। जिन भावों का उसने कभी अनुभव किया ही नहीं, वे समय पर उसके वैसे ही काम आते हैं जैसे उसके परिचित भाव। इलिएट के मन से काव्य में स्थान पाने के लिए भावों का कवि के अनुभव की राह से आना जरूरी नहीं है। इलिएट के अनुसार 'ईमानदार आलोचना और संवेदनात्मक परिशंसा को लक्ष्य कवि नहीं है बल्कि कविता है'।

काव्य-सृजन प्रक्रिया में निजी और व्यक्तिगत अनुभवों के हस्तक्षेप को अमान्य ठहराने के बाद इलिएट जब व्यक्तित्व के पलायन से अपना मन्तव्य स्पष्ट करते है तो उसका अर्थ होता है व्यक्ति तत्व का निषेध और तिरस्कार - अर्थात निर्वैयक्तीकरण। वे विज्ञान की वस्तु-परकता की प्रतिष्ठा करते हैं और रोमाण्टिक भाव बोध की आवेशी विषयी परकता से सीधा इन्कार करते हैं। इस अर्थ में कवि कर्म कलाकार का आत्म बलिदान है, व्यक्तित्व का सतत समर्पण। अपने निजी व्यक्तित्व को एक बृहत्तर व्यक्तित्व के लिए मिटाना व्यक्ति से वस्तु होते जाने की प्रक्रिया है -व्यक्ति तत्व को हटाकर वस्तु के प्रति पूर्ण सम्पूर्ण आत्मदान। इलिएट का यह कथन सहसा ही हमारे ध्यान में कौंध जाता है कि कविता भावों का उत्मोचन नहीं है - बल्कि भावों से मुक्ति है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं है बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है'।

निर्वैयक्तीकरण की यह प्रक्रिया कला को विज्ञान की स्थिति के आसपास पहुँचाती दिखाई देता है। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए इलिएट ने एक उत्प्रेरक (Catalytic) का बेजोड़ दृष्टांत दिया कि जब ऑक्सीजन और सल्फर डाइ-ऑक्साइड से युक्त कक्ष या प्रकोष्ठ में प्लेटिनम के बारीक तार का प्रवेश कराया जाता है तो क्या घटित होता है। ऑक्सीजन और सल्फर डाइ ऑक्साइड मिलाकर सल्फ्यूरस दएसिड (Sulphur EUs acid) बन जाते हैं। प्लेटिनम के तार की मौजूदगी में (ऑक्सीजन और सल्फर डाइ ऑक्साइड) दोनों को मिलाया जाता है तो उनसे सल्फ्यूरस एसिड बन जाता है। यह संयोजन तभी घटित होता है जब प्लेटिनम मौजूद हो, फिर भी इस नव निर्मित गैस में प्लटिनम का कोई चिन्ह नहीं बचता और स्वयं प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह निष्क्रिय, तटस्थ और अपरिवर्तित रहता है। कवि का मानस

प्लेटिनम का तार है। हो सकता है वह स्वयं व्यक्ति के अनुभव अंशतः या पूर्णतया परिचालित हो, परंतु कलाकार जितना पूर्ण या सिद्ध होगा उतना ही उसके भीतर के भोक्ता मानव और सृष्टा मानव के बीच का पार्थक्य स्पष्ट होगा। (The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates) अर्थात उसके अनुभव संवेदनों और भावों से काव्य में व्यक्त संवेदन और भाव सर्वथा भिन्न होंगे। क्योंकि वह अनुभूत भावों को पूर्णता आत्मसात करके उन्हें नए रूपों में टाल देता है। इसके विपरीत कमजोर कवि अपने ही भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। नतीजा यह होता है कि उसका काव्य अप्रौढ़ता को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार इलिएट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत भारतीय साधारणीकरण से साम्य रखता है। इसमें व्यक्तित्व का पलायन व्यक्तित्व का निषेध नहीं अपितु वस्तुनिष्ठता के प्रति समर्पण है। इनका वस्तुनिष्ठ समीकरण सिद्धांत निर्वैयक्तिकता की पुष्टि करता है। इलिएट कला कला के लिए का उद्घोष करने वालों की तरह उसे सामाजिकता नैतिकता और धार्मिकता के बंधन में नहीं जकडते है। इस प्रकार इलिएट ने कलावादियों से भिन्न एक संतुलित आलोचना दृष्टि का सूत्रपात किया।

6.8. सारांश:

इलिएट आधुनिक युग के न केवल सर्वश्रेष्ठ कवि है, बल्कि आलोचनात्मक वृत्ति के समर्थ व्याख्याता भी हैं। उनकी कृतियाँ व्यवस्था के प्रयोजन से प्रेरित है। इतिहास बोध और परम्परा की धारणाओं के अंतर्गत अतीत के समय साहित्य को वर्तमान के लिए और दूसरे देशों के साहित्यों को किसी एक देश के लिए सार्थक तथा उपादेय मानना इलिएट की प्रमुख देन है। परम्परा की तरह काव्य भी निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत उनके लेखन में सर्वत्र व्याप्त है। रोमांटिक भावधारा की अनिवैयक्तिकता के फलस्वरूप उन्होंने अपने यह सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं। काव्य और आलोचना दोनों में इलिएट निर्वैयक्तिकता एवं वस्तुनिष्टता के समर्थक हैं। वस्तुतः निर्वैयक्तिकता एवं वस्तुनिष्टता अभिजात्यवादी धारणाएँ है जिन्हें ये साहित्य के लिए हितकर समझते हैं। इलिएट काव्यानुभूति को विशिष्ट अनुभूति मानते हैं। रिचर्ड्स की तरह सामान्य अनुभूति नहीं। पर्याय रूप में काव्यानन्द लौकिक आनन्द से विशिष्ट है। इस अंश में इलिएट की मान्यता भारतीय काव्य शास्त्र की मान्यता के निकट है, जिसमें काव्यानन्द को अलौकिक माना गया है। निःसंदेह कवि और आलोचक के रूप में इलिएट को जो प्रसिद्धि मिली वह अन्य किसी को अपने जीवन काल में नहीं मिली।

बीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता की तरह अंग्रेजी आलोचना में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ लाने का श्रेय टी. एस. इलिएट को ही दिया जाता है। उनका आलोचना सर्जनात्मक इसलिए हैं कि वे मूलतः सर्जक थे और सर्जक की भाँति ही उन्होंने काव्य-सर्जना के बाधक तत्वों पर कड़े प्रहार किए। अपने प्रिय रचनाकारों पर उन्होंने निरंतर लेख लिखे परंतु आलोचना पर न तो कोई स्वतंत्र पुस्तक लिखी न एक सिद्धांतशास्त्री की तरह नियमों सिद्धांतों का निरूपण किया। न उन्होंने कोई अपना आलोचना-मठ ही बनाया जिसके वे माठाधीश बन सकें। केवल कवि और काव्य-चिंतन से सूझते रहें और इसी संघर्ष ने अंग्रेजी आलोचना की दिशादृष्टि में परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

संदर्भ ग्रंथ :-

1) पाश्चात्य काव्यशास्त्र, देवेन्द्रनाय शर्मा, नेशनल पाब्लिकेशन हाउस, दिल्ली। (2016)
2) पाश्चात्य काव्यशास्त्र, तारक नाथ बाली, वाणी प्रकाशन, दिल्ली- (2017)
3) पाश्चात्य साहित्य चिंतन, सं. प्रो. निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली- 1990.

डॉ. सोनकांबळे पिराजी मनोहर

7. एफ. आर. लेविस- मूल्य विवेचन

7.0. उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पाश्चात्य विद्यार्थीगण :

- विद्यालय की पाठ्यचर्या में मूल्य शिक्षा के उद्देश्य जिस प्रकार समाहित किये गये हैं, उन्हें समझ सकेंगे।
- जीव की वर्तमान स्थिति में मूल्यों के आयामों के प्रति लगाव अनुभव करेंगे और अधिक सजग हो सकेंगे।
- हमारे संविधान में उल्लेखित मूल्यों को पहचान सकेंगे।
- छात्रों को ऐसे अवसर प्रदान कर सकेंगे कि वे इन मूल्यों को जीवन में उतार सकेंगे।
- छात्रों में मूल्यों के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने के लिए अध्यापक के रूप में अपनी भूमिका को समझ सकेंगे।

उपर्युक्त तथ्यों से अवगत कराना ही इस पाठ का उद्देश्य है।

इकाई-VII

7.1. प्रस्तावना

7.2. मूल्य का अर्थ

7.3. मूल्य की परिभाषाएँ

7.4. मूल्य की अवधारणा

7.5. मूल्य की प्रकृति एवं विशेषताएँ

7.6. सांस्कृतिक अध्ययन की राजनीति- फ्रैंसिस म्यूलहर्न

7.7. एफ. आर. लेविस

7.7.1. प्रारंभिक जीवन और शिक्षा

7.7.2. एफ. आर. लेविस- मूल्य विवेचन-

7.8. सारांश

7.1. प्रस्तावना (Introduction)-

'मूल्य की आवश्यकता एवं महत्व' नामक इस इकाई को पढ़कर आप मूल्य के स्वरूप, अर्थ, आवश्यकता एवं अनिवार्यता के प्रति जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। जैसा कि हम सभी यह जानते हैं कि विद्यालयी शिक्षा का उद्देश्य बालकों का सर्वांगीण विकास करना है। इस व्यापक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि विद्यार्थी जीवन में शिक्षक उन्हें सूचनात्मक ज्ञान का ज्ञाता बनाने के साथ-साथ उन्हें स्वस्थ दृष्टिकोण, आदतों, कुशलताओं एवं मूल्यों के प्रति सजग-संवेदनशील व्यक्तित्व भी बनायें। इस "समग्र-विकास" की प्राप्ति के लिए मूल्य-शिक्षा के सम्प्रत्यय एवं प्रयोग को समझाना होगा। प्रस्तुत इकाई मूल्य के अवधारणा की समझ, मूल्य-शिक्षा और मूल्य विवेचन की आवश्यकता एवं महत्व का अनुप्रयोग करने में आपकी मदद करेगा।

7.2. मूल्य का अर्थ-

जीवन और संसार को हम जिस अर्थ के संदर्भ में समझने की चेष्टा करते हैं, उस अर्थ को सामान्य रूप से 'मूल्य' कहा जाता है। कुछ दार्शनिक मूल्य को वस्तुनिष्ठ अर्थात पदार्थ पर आधारित मानते हैं, तो कुछ अन्य विचारक इन्हें व्यक्तिनिष्ठ अर्थात व्यक्ति के अनुभव पर आधारित मानते हैं। मूल्यों की व्यक्तिनिष्ठ विचारधाराएँ पदार्थों का मूल्यांकन मनुष्यों की व्यक्तिगत संतुष्टि के संदर्भ में करती है, जबकि वस्तुनिष्ठ विचारधाराएँ मानवीय संतुष्टि का ध्यान रखते हुए भी कुछ वस्तुनिष्ठ सिद्धांतों पर विश्वास रखती है और उन सिद्धांतों के अनुसार ही मूल्य सिद्धांतों को स्थिर करती है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि मूल्यों को व्यक्तिगत संतुष्टि पर आधारित कर देना, मूल्यों के मूल्य को ही समाप्त कर देना है। इसलिए शिक्षा की दृष्टि से इन व्यक्तिनिष्ठ विचार-धाराओं का अधिक महत्व नहीं है। मूल्य एक न होकर अनेक होते हैं। भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में भी उनका वर्गीकरण किया जाता है। नैतिक, आर्थिक आदि दृष्टियों से भी मूल्यों की श्रेणियाँ बनायी जाती हैं, किन्तु ये वर्गीकरण सुविधा की दृष्टि से ही हैं।

मूल्य एक अमूर्त सम्प्रत्यय है। इसका संबंध मनुष्य के भावात्मक पक्ष से होता है, जो कि उसके व्यवहार को नियंत्रित एवं निर्देशित करता है। दर्शन शास्त्र में मनुष्य के 'जीवन के प्रति दृष्टिकोण' को मूल्य की संज्ञा दी जाती है। मूल्य के बिना जीवन कुछ भी नहीं मूल्य के साथ ही जीवन अर्थपूर्ण है। जो मनुष्य मूल्यों को महत्व देता है, वे समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ऐसा व्यक्ति समय को महत्व देता है, वह हर पल का भरपूर आनंद लेता है एवं उसका भरपूर उपयोग भी करता है। अतः इस प्रकार से प्रत्येक वह वस्तु जिसका महत्व (Value) होता है, उसे मूल्य कहा जाता है। सत्य, ईमानदारी और अच्छाई इत्यादि मूल्य है। इसके विपरीत झूठ, बेईमानी आदि अवमूल्य है।

वैल्यू (Value) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Valere' शब्द से मानी जाती है जो किसी वस्तु की कीमत या उपयोगिता को व्यक्त करता है। भारतीय धर्म ग्रंथों में मूल्यों के लिए 'शील' शब्द अनेक स्थानों पर प्रयुक्त होता है। यह शब्द 'मूल्य' का पर्याय नहीं बल्कि 'समीपी' शब्द है। 'शील' सर्वत्र भूषण का कार्य करता है। कहीं-कहीं शील शब्द चरित्र के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः "मूल्य एक प्रकार का मानक है। मनुष्य

किसी वस्तु, क्रिया, विचार को अपनाने से पहले यह निर्णय करता है कि वह उसे अपनाये या त्याग दे। जब ऐसा विचार व्यक्ति के मन में निर्णयात्मक ढंग से आता है तो वह मूल्य कहलाता है।"

एक विलक्षण ढंग से मूल्य की परिभाषित करते हुए डॉ. मुकर्जी ने लिखा है, मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ एवं लक्ष्य है जिनका आन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और व्यक्ति श्रेष्ठ अधिमान, मान तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं।

7.3. मूल्य की परिभाषाएँ (Definition of Value):

- **डी. एच. पार्कर के अनुसार-**

"मूल्य पूर्णतयः मन के साथ संबंधित है। इच्छा की पूर्ति वास्तविक मूल्य है, जिससे वह इच्छा पूरी होती है वह केवल साधन है। मूल्य का संबंध हमेशा अनुभव से होता है, किसी वस्तु के साथ नही।"

- **ब्रुबेकर के अनुसार-**

"किसी के शिक्षा उद्देश्यों को व्यक्त करना वस्तुतः उसके शिक्षा-मूल्यों को व्यक्त करना है।"

- **ए. के. सी. ओटावे के अनुसार-**

"मूल्य वे विचार है जिनके लिए मनुष्य जीते है।"

- **जैक आर. फ्रैंकलिन के अनुसार-**

"मूल्य आचार, सौंदर्य, कुशलता या महत्व के वे मान दण्ड है, जिनका लोग समर्थन करते है, जिनके साथ वे जीते है तथा जिन्हें वे कायम रखते है।"

- **जॉन जे. काने के अनुसार-**

"मूल्य वे आदर्श, विश्वास या मानक हैं, जिन्हें समाज या समाज के अधिकांश सदस्य ग्रहण किए हुए होते हैं।"

- **ऑगबर्न के अनुसार**

" मूल्य वह है जो मानव इच्छाओं की तुष्टि करें।"

- **जेम्सवार्ड के अनुसार-**

"इच्छा का स्वयं कोई मूल्य नहीं है। मूल्य इच्छा को तुष्ट करने वाली वस्तु है। इच्छा की पूर्ति से सुख होता है। अतः सुखानुभूति में मूल्य की अनुभूति है।"

- **राधाकमल मुखर्जी** के मतानुसार, "सामाजिक मूल्य के सामाजिक मान-लक्ष्य या आदर्श है। जिनके आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा विषयों का मूल्यांकन किया जाता है।"
- **फिचर के मतानुसार-**

"सामाजिक दृष्टि से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनके द्वारा समूह या समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्त्व का निर्णय करते हैं।"

संक्षेप में, मूल्य वे सामान्य सिद्धांत हैं जो प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। ये समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्य हैं, जो समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से आन्तरीकृत किए जाते हैं। मूल्य अभिवृत्तियाँ तथा आदर्श हमारे व्यवहार को निर्देशित तथा नियंत्रित करते हैं। मूल्य अभिप्रेरणा को दिखा देते हैं, आवश्यकताओं की सम्पुष्टि के स्वरुप को निर्धारित करते हैं एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के साधनों के चयन में निर्णय लेने में निर्णायक का कार्य करते हैं। हम सहयोग करेंगे अथवा असहयोग सहनशील होंगे अथवा असहनशील, उदार-हृदय होंगे अथवा संकीर्ण कठोर हृदय, आत्मविश्वासी होंगे अथवा भयभीत, ये हमारे विचारों पर ही निर्भर नहीं करता, यह हमारे मूल्यों द्वारा, हमारे स्थायी भावों तथा अर्जित-परिमार्जित मूलप्रवृत्तियों के द्वारा निश्चित होता है। मूल्य की उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के बाद मूल्य को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि 'मूल्य मानदण्ड हैं जो कि किसी समाज में उपलब्ध साधनों एवं लक्ष्यों के चयन में सहायता करते हैं तथा मानव व्यवहार का निर्धारण करते है।'

7.4. मूल्य की अवधारणा (Concept of Value)-

मूल्य शिक्षा किसी विषय-विशेष से संबंधित न होकर विद्यालय की समस्त पाठ्यचर्या और क्रियाकलापों का अभिन्न अंग है। मूल्य शिक्षा का अभिप्राय सुसंगठित सभ्य समाज के उद्देश्यों को वास्तविकता के धरातल पर लाना है। इसके लिए भारत के संविधान ने हमें दिशा बोध दिया है। एन. सी. ई. टी. द्वारा 1988 में बनाये गये प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की रूपरेखा में मूल्य शिक्षा को विद्यालयों में पाठ्यक्रम का मुख्य अंग माना गया है।

विद्यालय स्तर पर शिक्षा का सामान्य उद्देश्य समानता के विकास पर बल देना है। ये समानताएं मनुष्य को समाज में प्रभावशाली बनाये रखती है। प्रभावशाली व्यक्तित्व परस्परता एवं सामंजस्य जैसी उच्च क्षमताओं का धनी होता है। अतः आवश्यक है कि विद्यालयी जीवन में बालक के चरित्र एवं व्यवहार में समानता के प्रति आकर्षण पैदा हो। मित्रता, सहयोग, करुणा, आत्मानुशासन, आत्म-संयम, आत्म-विवेचन, विनोदशीलता, प्रेम, साहस, सामाजिक न्याय के प्रति जागरुकता आदि गुणों को प्रकाश में लाकर बालकों में समानता के प्रति चेतना (consciousness for equality) एवं समता के प्रति प्रेरणा (Motivation for equality) जगायी जा सकती है। अध्यापक को चाहिए कि वह बच्चों में ईमानदारी, सत्यता, निर्भरता, सृजनता, निर्भीकता और करूणा जैसी नैतिक और चारित्रिक मूल्यों का विकास करें। यहाँ प्रासंगिक होगा कि हम संक्षिप्त शब्दों में नैतिक और चारित्रिक मूल्यों का अर्थ समझ लें। धार्मिक और नैतिक शिक्षा समिति (1959) के द्वारा नैतिक मूल्यों की जो परिभाषा दी गई है, उसके अनुसार, "जो भी शिक्षा हमें दूसरे के प्रति सही आचरण करने में सहायक हो, वही

नैतिक शिक्षा है।" समिति द्वारा आध्यात्मिक मूल्यों की विवेचना इस प्रकार की गयी है- "जो मूल्य हमें स्वार्थ से उठकर परमार्थ के लिए या दूसरे महान कार्यों के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित करें, वही आध्यात्मिक मूल्य हैं।"

सच तो यह है कि विद्यालय एक ऐसा स्थान है, जहाँ हमें शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहिए। इस खण्ड के सूचनाओं एवं संकल्पनाओं द्वारा यह प्रयत्न किया गया है कि आपको मूल्य शिक्षा, जो सम्पूर्ण पाठ्यचर्या का अभिन्न अंग है, उद्देश्यों, विषयवस्तु, कार्यप्रणाली एवं आवश्यकताओं से अवगत कराया जाये।

7.5. मूल्य की प्रकृति एवं विशेषताएँ –

मूल्य सभी समाजों के प्रतीक होते है तथा सभी समाज अपने मूल्यों की रक्षा करना चाहते है। मूल्यों की प्रकृति अथवा विशेषताएं निम्नलिखित है-

1. अमूर्त सम्प्रत्यय -

मूल्यों का संबंध मनुष्य की आन्तरिक शक्ति, मन से होता है। यह समाज में अमूर्त रूप से स्थापित रहते है। अतः इस प्रकार समाज में प्रचलित मूल्यों की प्रकृति अमूर्त होती है।

2. दीर्घ अनुभवों का परिणाम-

किसी भी समाज में स्थापित मूल्य थोड़े ही समय में विकसित नहीं होते है बल्कि उनके निर्माण के लिए दीर्घ अनुभवों की जरूरत होती है। दीर्घ अनुभवों के परिणामस्वरूप समाज में विभिन्न सिद्धांत, विश्वास, आदर्श, नैतिक, प्रतिमान और व्यावहारिक मानदण्डों का स्थापन होता है।

3. सामाजिक स्वीकृति -

मूल्य समाज द्वारा स्वीकृति होती है। मूल्य सामान्यतः किसी समाज में उपस्थित विभिन्न प्रतिमान है जिसके अंतर्गत सामाजिक आदर्श, व्यावहारिक प्रतिमानों, नैतिक नियमों और सिद्धांतों आदि को सम्मिलित एवं स्वीकृत किया जाता है। इन मूल्यों को व्यक्ति द्वारा सामान्य स्वीकृत एवं महत्व दिया गया है।

4. व्यावहारिक निर्धारण-

प्रत्येक व्यक्ति मूल्यों के आधार पर समाज में व्यावहारिक क्रियाएँ करता है। मूल्य उसके व्यवहार को नियन्त्रित एवं उसका मार्गदर्शन करते है। इस प्रकार से मूल्य समाज में व्यवहार निर्धारक होते है।

5. मूल्यों का विकास-

आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक इत्यादि विभिन्न क्रियाओं में व्यक्ति सक्रिय रूप से सम्मिलित होता है। इस सम्मिलित सहभागिता से मूल्यों का विकास होता है।

6. मूल्य प्रत्यय -

मूल्यों का प्रथम चरण संज्ञानात्मक (Cognitive), दूसरा भावात्मक (Affective) और तीसरा क्रियात्मक (Conative) चरण है। मनुष्य में मूल्यों का निर्माण तब शुरू होता है जब उसमें विवेक संज्ञान उत्पन्न होता है और वह इनके उद्देश्यों के बारे में सोचने लगता है। समाज के जिन मूल्यों से व्यक्ति प्रभावित होता है, वे उसकी भावना से जुड़ जाते है।

7. मूल्यों का चयन-

व्यक्ति उन्हीं मूल्यों को ज्यादा महत्व देते है जो उनकी पसंद एवं समाज में प्रचलित होते है, जैसे- आदर्श, सिद्धांत, नैतिक नियम एवं व्यवहार मानदण्ड। इस प्रकार से मूल्यों का चयन सामान्यतः व्यक्ति की रुचि पर आधारित होता है।

8. उचित कार्य प्रेरक-

समाज में प्रचलित मूल्य व्यक्ति को अच्छे काम करने के लिए प्रेरित करते है। मूल्य सही गलत उचित-अनुचित का निर्धारण करने में व्यक्ति के सहायक होते है।

9. आत्म-सन्तुष्टि -

मूल्य व्यक्ति को निर्देशित एवं मार्ग दर्शित करते है और व्यक्ति इन मूल्यों की रक्षा में सम्पूर्ण रूप से समर्पित रहता है। मूल्यों को पालन करने में उसे आत्मसंतुष्टि की अनुभूति होती है।

10. परिवर्तनशीलता -

मूल्यों की प्रकृति परिवर्तनशील है। अलग-अलग समाजों के मूल्य अलग-अलग होते है। समाज की पहचान उनके मूल्यों के द्वारा ही होती है। परिस्थितियाँ नवीन मूल्यों को जन्म देती है।

11. समाज की पहचान -

किसी समाज, राष्ट्र एवं व्यक्ति की पहचान उनके मूल्यों के द्वारा होती है।

7.6. सांस्कृतिक अध्ययन की राजनीति- फ्रैंसिस म्यूलहर्न-

अनुमानतः उत्तर आधुनिक समयों की एक आश्चर्यजनक बौद्धिक परिघटना महानगरीय विद्वतपरिषद में सांस्कृतिक अध्ययनों के एक नए 'ज्ञान क्षेत्र' का आरंभ होना है। यह आरंभ से ही विचारधारात्मक एवं आनुभविक गवेषणा की एक दृष्टि और आत्मज्ञात विरोधात्मक कार्य योजना था। एक विचार, जिसने सर्वप्रथम बर्मिंघम विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में एक उप विभाग के रूप में संस्थागत आकार ग्रहण किया,आज विकसित होकर शैक्षिक गतिविधि की समस्त सूची में शामिल हो गया है। इसमें विशिष्ट डिग्री, स्नातक कार्यक्रम, पेशे से संबंधित संस्थाएं, बड़े-बड़े सम्मेलन और अंतर्महाद्वीपीय नेटवर्क ये सभी चीजें उपलब्ध हैं। निगमित प्रकाशकों ने तो सांस्कृतिक अध्ययनों से संबंधित लेखन के लिए पूरी पुस्तक सूची ही समर्पित कर दी है। इसमें

इस विषय से जुड़े न केवल शोध शामिल हैं बल्कि इसका इतिहास भी। इसमें अध्येताओं के लिए भारी भरकम पाठ्य पुस्तक हैं न कि झांसापट्टी के कुछ गाइड। अपनी प्रभावशाली संरचना का निर्माण करने के साथ-साथ सांस्कृतिक अध्ययनों ने अधिकारिक सफलता के साथ शिक्षा के अन्य क्षेत्रों विशेष रूप से साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र और महिलाओं से संबंधित अध्ययन के क्षेत्रों में शोध तथा शिक्षण को नए रूप में प्रस्तुत करने का सुझाव दिया है। तीस साल पूर्व आरंभ हुआ एक छोटा सा रैडिकल हस्तक्षेप अब समस्त मानव विज्ञानों के लिए व्यापक रूप से एक नए सामान्य सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। यह घटना एक समझदार प्रेक्षक में अनिवार्य रूप से एक विसंगति या सहज अवास्तविकता का अहसास उत्पन्न करती है। यह अहसास इस कल्पना से और भी गहरा हो जाता है कि यह घटना उन ऐतिहासिक स्थितियों में हुई जिनमें इसे विफल करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए थी।

सांस्कृतिक अध्ययन रैडिकल नव परिवर्तन तथा पुर्नसंरचना की एक स्व-परिभाषित योजना है। जिन बरसों में इसका पल्लवन हुआ, वह उन शैक्षिक संस्थानों, जहां इस विषय का अध्ययन होता है, (विशेष रूप से, लेकिन केवल ब्रिटेन में ही नहीं) उसके लिए कठोर वित्तीय संयम तथा उन रैडिकल आंदोलनों के पराभव और दिशाभ्रम का समय था, जो इसके प्रेरणा स्रोत रहे हैं। सांस्कृतिक अध्ययन की धूम एक प्रभावशाली वास्तविकता है लेकिन किसी को भी इसे विकास गाथा मानकर जश्न मनाना नहीं चाहिए। सांस्कृतिक अध्ययन के कारण जो व्यक्तिगत तथा सामूहिक उपलब्धियां संभव हुई हैं, इन्हें स्वीकार करना उचित है।

विवेचना पांच संक्षिप्त टिप्पणियों के रूप में करने का प्रयास किया है। सबसे पहले सांस्कृतिक अध्ययन को सांस्कृतिक विश्लेषण की एक अलग स्पष्ट प्रवृत्ति के रूप में परिभाषित करने की कोशिश की है कि जीवन के कुछ अंतर्विराधों तथा विचारों की चर्चा करते हुए अंत में इसमें जो संबंध दांव पर है, जैसे, संस्कृति और राजनीति के बीच के संबंध के बारे में कुछ सामान्य आलोचनात्मक अभ्युक्तियां दी हैं।

1. सांस्कृतिक अध्ययन की पुराशास्त्रीय परिभाषा रेमंड विलियम्स द्वारा प्रतिपादित की गई थी। उनके अनुसार यह ऐतिहासिक भौतिक मानवीय संघटन समझे जाने वाले समाजों में बोध-निर्माण की पूरी दुनिया (व्याख्याओं, विश्लेषणों, अधि निरूपणों, सभी प्रकार के मूल्यांकनों) में तथा 'संपूर्ण जीवन शैली' के नियामक भाग के रूप में बोध-निर्माण का अन्वेषण करेगा। यानी सांस्कृतिक अध्ययन सबसे पहले विश्लेषण के क्षेत्र में व्यापक विस्तार की मांग करता है। साहित्यिक आलोचना की सीमाओं से भी परे जिससे यह उत्पन्न हुआ है। अर्थात सभी सामाजिक अर्थों की जांच की जा सकती है। बहरहाल, सांस्कृतिक अध्ययन की परिभाषा के लिए इतना कहना काफी नहीं। सांस्कृतिक आलोचना की पुरानी परंपरा दैनिक जीवन के अर्थ के अध्ययन को विशेष महत्व देती थी। इस परंपरा के लेखकों में इंगलैंड के साहित्यिक समालोचक **एफ.आर. लेविस** तथा क्यू. डी. लेविस, स्पेन के दार्शनिक जोस ओटर्गा वाई गैसेट, या जर्मन के युवा थॉमस मान थे। उन्होंने लोकतंत्र की नई 'जनसमूह संस्कृति' का तथा वाणिज्यीकृत साक्षरता का पूरे मनोवेग के साथ प्रत्युत्तर दिया लेकिन हमेशा उच्च विचार की भावना और परंपरावादी जुगुप्सा से। इनके विपरीत सांस्कृतिक अध्ययन अपने आंकड़ों के 'प्रतिक्रियात्मक समतुल्यीकरण' का प्रस्ताव करता है।

दूसरे शब्दों में, हालांकि कविता और पॉपकॉर्न के विज्ञापन किसी भी सत्याभासी नैतिक अर्थ में समान महत्व के नहीं हो सकते लेकिन सामाजिक अर्थों के वाहक के रूप में दोनों काफी रोचक हैं और उस अर्थ में दोनों के प्रति समान विश्लेषणात्मक गंभीरता होनी चाहिए। बहरहाल यह विभेद भी, पहली परिभाषा के समान, सांस्कृतिक अध्ययन की विवेचना के लिए अपर्याप्त है। सांस्कृतिक अध्ययन महज मानवशास्त्र की एक शैली नहीं जो सांकेतिक प्रतिक्रियाओं के एक समूह के रूप में समाज का अध्ययन करता है। एक तीसरा विशिष्ट विवरण भी है जो बहुत महत्वपूर्ण है। सांस्कृतिक अध्ययनों ने सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) की सामाजिक संवेदनशीलता और इसके रेंज का महज विस्तार नहीं किया बल्कि उन मूल्यों के संपूर्ण तंत्र को चुनौती दी जो पुरानी परंपरा और सांस्कृतिक सत्ता के पूरे तंत्र का समर्थन करता था तथा एक वैकल्पिक सत्ता के रूपों को यदि स्थापित नहीं किया, तो कम से कम उन्हें ढूंढ़ने का कार्य आरंभ किया।

2. सांस्कृतिक अध्ययन के एक विस्तारित, समतल क्षेत्र का यह प्रत्यय व्यावहारिक कम और सैद्धांतिक अधिक है। कोई पेशावर समूह, कोई भी व्यक्ति 'सभी कुछ' के अध्ययन का दिखावा नहीं कर सकता। अध्ययन सामग्रियों के एक उदासीन चयन की धारणा भी परस्पर विरोधी है। चयन के लिए कुछ मौलिक विकल्प हैं और ऐसा प्रतीत होता है। अपनी सभी संभव अनुभूतियों की भिन्नता तथा संस्थागत परिस्थिति की विविधता के बावजूद सांस्कृतिक अध्ययन अपनी प्राथमिकताओं के अर्थ में अपेक्षाकृत स्थायी रहा है। इसके विश्लेषण का मुख्य क्षेत्र सामाजिक परिघटनाओं का वही रेंज रहा है जिसने पारंपरिक सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) को अत्यधिक चौकन्ना और प्रतिकर्षित कर दिया यानी उन्नत पूंजीवाद के प्रत्ययों तथा 'जनसमूह' सांस्कृतिक रूपों: सिनेमा, टेलीविजन, जन-पत्रकारिता, विज्ञापन, शॉपिंग को, इसका प्रमुख विवादात्मक थीम, जो सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) के रूढ़ि विश्वास का सीधे-सीधे खंडन करता है, यह रहा है कि इस प्रकार की संस्कृति महज मूर्छाकारी औषधि नहीं, जिसे समजातीय जनसमूह में उदासीनता उत्पन्न करने के लिए सफलतापूर्वक तैयार किया गया हो बल्कि इसके विपरीत इसमें सक्रिय, स्वैच्छिक, चुनिंदा और विध्वंसात्मक जन भागीदारी है।

संस्कृति के किसी भी समाजवादी सिद्धांत के लिए क्षेत्र तथा परिप्रेक्ष्य के ये परिवर्तन अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यदि सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) की मतांध प्रस्थापनाएं वास्तव में वैध हैं और कुछ मार्क्सवादी खासकर हर्बर्ट मारकस उस विचार से सहमत हैं, तो मेहनतकश वर्ग की आत्म मुक्ति के रूप में समाजवाद को पुराशास्त्रीय, अर्थग्रहण एक सांप्रदायिक धर्मपरायणता से ज्यादा कुछ भी नहीं। जब अंतोनियो ग्राम्शी ने कहा कि सभी मनुष्य बुद्धिजीवी है, यद्यपि उनमें से केवल कुछ को ही 'प्रबुद्ध' का दर्जा तथा सामाजिक कार्य का दायित्व दिया जाता है तो उन्होंने यह बात इसी पुराशास्त्रीय भावना से कही थी।

हालांकि ग्राम्शी के सूत्र का निर्णायक पहलू इसका दोहरा चरित्र है: यह न केवल मुक्ति और भौतिक संभावना पर बल देता है बल्कि वर्चस्व के स्थापित तथ्य की भी पुष्टि करता है। सांस्कृतिक अध्ययन की प्रमुख प्रवृत्ति का जोर दूसरी ओर है। चूंकि सांस्कृतिक अध्ययन अपने विश्लेषण क्षेत्र में 'उच्च' सांस्कृतिक रूपों तथा आचरणों को शामिल नहीं करता है अतः यह अपनी ही विचारधारात्मक महत्वाकांक्षा से समझौता करता है

जो कि 'संपूर्ण जीवन शैली' या और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो संस्कृति के समग्र विद्यमान सामाजिक संबंधों की विवेचना करना है। चूंकि यह प्रचलित सांस्कृतिक व्यवहारों के सक्रिय तथा महत्वपूर्ण तत्व पर एकतरफा जोर देता है अतः इसमें असमानता और दमन की व्याकुल कर देने वाली ऐतिहासिक वास्तविकताओं की अनदेखी करने की प्रवृत्ति भी है। ये ऐतिहासिक वास्तविकताएं उनका निर्धारण करती हैं। ये प्रवृत्तियां संयुक्त रूप से उचित आलोचना सिद्धांत के विकास तथा विश्लेषण के विरुद्ध कार्य करती है। जो सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) को प्रतिस्थापित करने का दावा करती हैं लेकिन वास्तव में इसकी प्रति पूरक प्रतिक्रिया से ज्यादा कुछ भी प्रस्तुत नहीं करती है।

सांस्कृतिक अध्ययन में कुछ मत इन प्रवृत्तियों के खिलाफ उठ खड़े हुए हैं लेकिन बिना किसी खास सफलता के बहुसंख्यक प्रवृत्ति के विरुद्ध 'जनवाद' का आरोप लगाया गया है और यह सही भी है। लेकिन अपने सभी रूपों में जनवाद अपने आपको विरोध परक पाता है। यहां इसके विरुद्ध इससे भी अधिक गंभीर आरोप लगाए जा सकते हैं। चूंकि आज अधिकांश महानगरीय लोक संस्कृति ने पण्यीकृत मनोरंजन या सौंदर्यीकृत जीविकोपार्जन कार्य का रूप ले लिया है; 'जीवनशैली' में सब कुछ बाजार के साथ संघटित है, अतः सांस्कृतिक अध्ययन का स्वतः स्फूर्त झुकाव वास्तव में विन्यासवादी है। सबसे बुरे ढंग से सोचने पर यही 'सैटेलाइट टेलीविजन तथा शापिंग माल्स' की विचारधारात्मक आत्मचेतना है।

3.माना कि यह विवरण स्थिति की सबसे खराब विवेचना है। इसके प्रति उल्लेखनीय ऊर्जा और प्रतिभा तथा कार्य का असाधारण रिकार्ड प्रस्तुत किया जाना चाहिए। लेकिन यह इस स्वीकृत दृढ़ विश्वास के अर्थ पर और विचार करने के लिए प्रेरित करता है कि सांस्कृतिक अध्ययन अनिवार्य रूप से वामपंथ की ओर है या जैसा कि एक जोरदार तथा खोखले पद बंध में हमसे बार-बार कहा जाता है कि यह 'निर्सगत: राजनीतिक' है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सांस्कृतिक अध्ययनों ने समाजवादी, स्त्री-वादी, नस्लवाद विरोधी, साम्राज्यवाद विरोधी जैसे मुक्तिदायी सामाजिक उद्देश्यों को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है।

इन विशिष्ट और ठोस अर्थों में इनका हस्तक्षेप राजनीतिक है। लेकिन सांस्कृतिक अध्ययन को महज 'हस्तक्षेप' समझते रहना रूमानी होगा। अब यह संस्थागत शैक्षिक गतिविधि है और शैक्षिक गतिविधि, इसके आंतरिक गुण चाहे जो भी हो, निश्चित तौर पर राजनीतिक परियोजना नहीं हो सकती। जब कोई विरोधात्मक प्रवृत्ति एक ऐसा विषय बन जाती है जिसके लिए अलग बजट प्रावधान हो, जो प्रत्यय-पत्र, आजीविका और शोध के लिए धन मुहैया कराता हो तो क्या होता है? कमोबेश वही जो कोई यथार्थवादी उम्मीद करेगा। कोई भी शैक्षिक विषय सम्मान रूप में या यथार्थ रूप में अपने छात्रों या शिक्षकों पर राजनीतिक परीक्षण लागू नहीं कर सकता।

वाकई वह दिन दूर नहीं और शायद वह आ चुका है जब इस विषय के वास्तविक प्राध्यापक, जिन्होंने इसमें प्रशिक्षण प्राप्त किया है तथा इसे विद्वतापूर्ण आजीविका के रूप में अपनाया है 'विध्वंस' या इसी प्रकार की शीर्षक वाले नेमी पाठयक्रमों पर कक्षाओं में परिचयात्मक व्याख्यान देने के लिए अपना स्थान ग्रहण करेंगे। यह केवल कटु परिकल्पना नहीं। यदि हम कोई पहले का उदाहरण देखना चाहें तो केवल **एफ. आर. लेविस**

और उसके सहकर्मियों का स्मरण करने की आवश्यकता है जिनकी साहित्यिक आलोचना की युयुत्सु, उग्र और विद्वता-विरोधी शैली का व्यापक अनुकरण किया गया और जो अंततः काफी पारंपरिक हो गई लेकिन इसका विरोधात्मक वैचित्र्य इसमें अभी भी था। उपदेश देना बेकार है लेकिन सांस्कृतिक अध्ययन से जुड़े वामपंथी विचारकों को उनका नया 'राजनीतिक' विषय उन्हें जितना प्रोत्साहित करने के लिए तत्पर प्रतीत होता है।

4. लेविस का यह उदाहरण सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) और सांस्कृतिक अध्ययन के बीच के संबंध के बारे में और भी विचार करने के लिए प्रेरित करता है। वे भी एक ऐसे आयाम में जहां वे एक दूसरे के गहरे विरोधी प्रतीत होते हैं, यानी राजनीतिक आयाम में। इसके भिन्न राष्ट्रीय तथा अनुशासनिक रंग-प्रबंधों (डिसिपलिनरी कलरेशंस) के बावजूद सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) एक स्थायी बौद्धिक परिघटना थी। इसके प्रवर्तक सामान्यतया मूल्यों के एक सत्तात्मक केंद्र से बोलने का दावा करते थे जिन्हें 'मानवीय' या 'सार्वभौम' या 'पारंपरिक' जैसे पदों के रूप में अभिलक्षित किया जा सकता है और जिसके लिए सर्वाधिक स्वीकार्य संक्षिप्त शब्द 'संस्कृति' है। इस अर्थ में उनका स्व-परिभाषित कार्य आधुनिकता के बढ़ते खतरों के विरुद्ध संस्कृति के हितों की रक्षा करना था, जिसका निरूपण बौद्धिक विशिष्टकरण या औद्योगिक प्रौद्योगिकी या वाणिज्यवाद या 'साधारण समाज' के रूप में किया जा सकता है और जिसके लिए पुराशास्त्रीय संक्षिप्त शब्द 'सभ्यता' थी।

सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) प्रायः संभ्रांतवर्गीय थी। यह एक निर्विवाद सत्य था कि संस्कृति हमेशा कुछ लोगों का ही सरोकार होना चाहिए जिसे सामान्य उदासीनता और अबोध्यता की स्थिति में जारी रखा जाना चाहिए। इसकी वकालत करने वालों के लिए खास राजनीतिक विकल्प दक्षिणपंथ से वामपंथ तक परिवर्तनीय थे। लेकिन सभी मामलों में ये विकल्प गौण थे क्योंकि सांस्कृतिक आलोचना का अंतर्निष्ठ उद्देश्य दृढ़तापूर्वक एक प्रकार की सामाजिक सत्ता प्रस्तुत करना था जो 'केवल' राजनीतिक नहीं इससे आगे हो। अतः संस्कृति जो कि आवश्यक मूल्यों का क्षेत्र है तथा सभ्यता, जो कि सामाजिक 'मशीनरी' का क्षेत्र, के बीच मुख्य अंतर ने ही इस कल्पना को असंभव बना दिया कि राजनीति एक सार्थक सामाजिक गतिविधि है।सांस्कृतिक अध्ययन ने सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) को विस्थापित करने का प्रयास किया है। इसने 'संस्कृति' और 'साधारण समाज' (मासेस) की एक वैकल्पिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इसकी गतिविधि, विकल्प, और महत्व की खोज की है। वहीं सांस्कृतिक आलोचना केवल जड़ता और यंत्रवाद को ही देख सकती थी और इसने ऐसा रैडिकल सामाजिक लक्ष्यों के नाम पर किया है। फिर भी यहां कुछ कौतूहल पूर्ण है। स्वाभाविक है कि सांस्कृतिक अध्ययन ने उदारवादी और रूढ़िवादी विचारों को निरंतर चुनौती ही है लेकिन यदि यह किसी चीज से पूर्वग्रह ग्रसित रहा है तो वह वामपंथ की कमियां हैं।

अब यह सच है कि समझने के लिए कई चीजें हैं लेकिन सांस्कृतिक अध्ययन ने सबसे अधिक केवल एक बात पर फोकस किया है। इसका लगातार सुझाव, जो कि प्रभावी रूप में इस विषय का संकेत-धुन भी है, यह है कि लोक संस्कृति न केवल राजनीतिक समझ को बढ़ाती है, प्रत्युत कुछ अर्थों में वामपंथ को विरासत में मिली राजनीतिक परंपराओं को अवैध करार देती है तथा अतिक्रमण करती है। दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक

अध्ययन केवल राजनीति ('वर्ग', 'राज्य', 'संघर्ष', 'क्रांति' और इसी प्रकार की पुरानी अवधारणा) को लोक संस्कृति की उच्चतर सत्ता के अधीन लाना चाहता है। ऐसा करने में यह विश्वसनीयता के साथ सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) के मूल पैटर्न को दोहराता है। यह सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) को नकारता है लेकिन ठीक वैसे ही जैसे दर्पण का बिंब आकृति को अक्षुण्ण रखते हुए इसके मूल को उलटा करता है। यहीं उन विरोधाभासों का स्रोत है जो इस हस्तक्षेपवादी विषय जिसे सांस्कृतिक अध्ययन कहते हैं के जीवन का निर्माण करता है।

5. तो फिर हम सांस्कृतिक सिद्धांत तथा राजनीति के बीच संबंध के बारे में कैसे सोच सकते हैं? सांस्कृतिक अध्ययन इस संबंध की विशिष्ट तथा गहरी समझ को दोहराता है। ऐसा कहने का मेरा अभिप्राय यह है कि यह समझ गलत है और यह सांस्कृतिक अध्ययन से जुड़े वामपंथियों के संजीदा राजनीतिक उद्देश्यों के साथ समझौता कर सकता है।

यह न्यूनीकरणवाद सांस्कृतिक विभेद की सभी अभिव्यक्तियों को राजनीतिक मानकर सम्मानित करता है और इसलिए विशेषाधिकारवाद को प्रोत्साहित करता है तथा अनिवार्य रूप से कठोर अर्थ में राजनीति का आत्म शक्ति विषयक विघटन करता है। यदि न्यूनीकरणवाद ने संस्कृति को एक राजनीतिक उपकरण के रूप में स्वीकार किया है तो विशेषाधिकारवाद ने प्रभावी रूप से राजनीति की संभावना को ही समाप्त कर दिया और कहूंगा कि सचमुच राजनीतिक संघर्ष के क्षेत्र के रूप में संस्कृति की संभावना को ही समाप्त कर दिया है। एक समाजवादी सांस्कृतिक सिद्धांत के लिए सांस्कृतिक आचरणों की संभावनाओं तथा सीमाओं को स्वीकार करना आवश्यक है। इसके लिए यह स्वीकार करना भी जरूरी है कि इस प्रकार के आचरण राजनीति से कम भी हैं, अधिक भी। हालांकि संस्कृति एक विवादित धरातल है, राजनीतिक संघर्ष का एक क्षेत्र, लेकिन यह केवल राजनीतिक नाट्यशाला नहीं हो सकती, न ही पूर्णरूपेण राजनीति को ही समाहित कर सकती है। संस्कृति के समाजवादी सिद्धांत का पहला नियम कहता है कि राजनीति और संस्कृति के बीच संबंध की प्रतीकात्मक अवस्था 'विसंगति' होगी। यह कोई बहुत आकर्षक प्रतिपादन नहीं प्रतीत हो सकता लेकिन सामाजिक अर्थों की समग्रता या 'संपूर्ण जीवन शैली' को समाहित करने के लिए 'संस्कृति' के दायरे का एक बार विस्तार कर लेने के बाद इस पर बल देना आवश्यक है। क्योंकि यह विस्तारित अर्थग्रहण समाजवादी सांस्कृतिक सिद्धांत के लिए महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ यह अपनी भी अवधारणात्मक समस्याएं खड़ी करती है।

यदि संस्कृति सामाजिक अर्थों की संपूर्णता है और यदि राजनीतिक गतिविधि का उद्देश्य एक दिए हुए स्थान के भीतर सामाजिक संबंधों की संपूर्णता है (जैसा कि एक सच्ची मुक्तिकारी राजनीति की होनी चाहिए) तो प्रथम द्रष्टव्य यह प्रतीत हो सकता है कि मानो संस्कृति और राजनीति दोनों एक ही चीज हैं, जैसा कि अब सांस्कृतिक अध्ययन मानने को तैयार है। सैद्धांतिक रूप में हम यह नहीं कह सकते कि एक प्रकार की सामाजिक विषय-वस्तु राजनीतिक और दूसरी प्रकार की नहीं। यदि पूरा समाज संस्कृति के अंतः क्षेत्र में है तो ऐसा लगता है कि कोई भी सांस्कृतिक प्रवृत्ति वैध रूप से अपने आपको 'राजनीतिक' कह सकती है। लेकिन यहां एक

मौलिक भ्रांति है। ऐसा समझा जा सकता है कि संस्कृति और राजनीति दोनों ही सामाजिक संबंधों की समग्रता को अपने में समेटे हुए हैं, लेकिन वे ऐसा अलग-अलग रूप में करते हैं।

राजनीति सामाजिक संबंधों के चरित्र के निर्धारण में अपनी भूमिका के कारण अन्य सामाजिक आचरणों से अलग है। जब यह शब्द और बिंब के रूप में पूरी तरह अर्थ के क्षेत्र में भी कार्य करती है तो राजनीतिक आचरण अपने विशिष्टीकृत प्रकार्य द्वारा विनियमित होता है। यह एक विचारात्मक आचरण (डेलिबरेटिव प्रैक्टिस) है जो सामान्यतया निर्णयोन्मुख होता है। नियंत्रण संबंधी प्रश्न हमेशा रहता है कि, 'क्या किया जाना है?' शांतिपूर्ण जनतांत्रिक स्थितियों में यह एक आदेशात्मक आचरण (इंजंक्टिव प्रैक्टिस) कार्य है, प्रभावी सहमति के लिए एक संघर्ष। अंततः यह उन संसाधनों की ओर मुड़ता है जिन्हें संस्कृति में परिणत नहीं किया जा सकता है यानी भौतिक अवपीड़न के साधन।

सांस्कृतिक आचरण इस प्रकार के नहीं होते जिन्हें हम अपेक्षाकृत कम अमूर्त रूप में वह समझें जिनका प्रमुख प्रकार्य अर्थ उत्पन्न करना होता है। उनके अर्थ की दुनिया भी वही है। उनमें राजनीतिक संकेत बहुत अधिक हैं लेकिन उन विशिष्टीकृत लक्षणों की कमी है और इनकी आवश्यकता भी नहीं। विचार-विमर्श, आदेश और बल प्रयोग द्वारा सामाजिक संबंधों की प्रकृति का निर्धारण करना संस्कृति का कार्य नहीं है। इस अंतर का निहितार्थ ग्राम्शी द्वारा अनुभव किया गया। उन्होंने कहा कि सांस्कृतिक निर्णय और राजनीतिक निर्णय की प्रकृति अलग होती है और उनमें एक स्थान पर मिलने की प्रवृत्ति भी नहीं होती।

सांस्कृतिक आचरण किसी भी और सभी विभेदों को निरपेक्ष मान सकता है (जैसा कि एक बार जार्ज लुकास ने कहा था कि कला और प्रत्ययों के क्षेत्र में कोई भी संयुक्त मोर्चा नहीं होता)। जबकि राजनीति किसी खास वस्तु स्थिति को लाने या रोकने के लिए, जीवन के इस या उस सामान्य स्थिति को प्राप्त करने के लिए विभेदों के साथ समान रूप में व्यवहार नहीं कर सकती। इसमें उन विभेदों को पाटने की क्षमता होनी चाहिए जिन्हें सांस्कृतिक आचरण निरपेक्ष मानता है ताकि विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एकजुटता बनाई जा सके। साथ ही उन्हीं कारणों से राजनीतिक हित सांस्कृतिक एकजुटता वाले क्षेत्र में विभाजन को प्रोत्साहित करना अनिवार्य बना सकता है। उदाहरण के लिए, एक राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए (उदाहरण स्वरूप राज्य द्वारा वित्तपोषित नर्सरी की व्यवस्था) किसी धार्मिक संप्रदाय के भीतर वर्ग तथा लिंग भेद संबंधी वैमनस्य को उजागर करना आवश्यक हो सकता है। किसी दिए हुए सांस्कृतिक हित के परिप्रेक्ष्य में देखने पर राजनीतिक मांग हमेशा ही या तो बहुत अधिक या बहुत कम होती है और संस्कृति के विरुद्ध राजनीतिक शिकायत भी हमेशा इसी प्रकार की होती है। प्रत्येक एक-दूसरे के सापेक्ष, सांप्रदायिक और एकता वर्धक दोनों हैं। सांस्कृतिक अध्ययन इसी मौलिक विभेद का लोप करता है। यहां इसके ऐतिहासिक कारणों की पड़ताल करने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है, लेकिन इसके परिणामों के बारे में कुछ कहा जा सकता है।

आरंभ से ही सांस्कृतिक अध्ययन की प्रवृत्ति राजनीति को संस्कृति में विलीन करने की रही है। रेमंड विलियम्स ने भी अनुदर्शन में स्वीकार किया कि उन्होंने सांस्कृतिक राजनीति की संभावनाओं को बढ़ा दिया था। वह सांस्कृतिक क्षेत्र से बाहर राजनीतिक रूप से सक्रिय रहे और अपने सैद्धांतिक कार्य में भी इस प्रवृत्ति से

कभी भी बाहर नहीं निकल पाए। फिर भी उन्होंने तथा उनके पूर्व के समाजवादी सांस्कृतिक अध्ययन करनेवालों ने कम से कम दो महत्वपूर्ण कार्य किए। पहला, स्तालिनवादी रूप में संस्कृति को राजनीतिक साधन बनाने की अस्वीकृति करते हुए उन्होंने विशेष रूप से उपभोक्ता पूंजीवाद तथा 'जन' संचार के युग में संघर्ष की जमीन के रूप में इसके महत्व को स्वीकार किया। दूसरा 'लोक' संस्कृति को संवेदनमंदक रहस्यवाद मानकर खारिज करने की संभ्रांतवर्गीय प्रवृत्ति के विरुद्ध उन्होंने इसकी वैधता पर बल दिया। पूंजीवादी समाज में लोक संस्कृति वर्चस्व या वस्तु वाद (कमोडिफिकेशन) की अनिवार्यताओं के संबंधों से बाहर कभी भी नहीं रही। फिर भी उन संबंधों तथा अनिवार्यताओं के भीतर 'साधारण समाज' कभी भी केवल निष्क्रिय और दमित नहीं था। लोक संस्कृति में दमन और प्रतिरोध दोनों ही परिलक्षित होते थे।

आज सांस्कृतिक अध्ययन न केवल राजनीति का संस्कृति में विलय को आगे बढ़ा रहा है बल्कि इस प्रक्रिया में यह इसके पथ-प्रदर्शकों की विरासत को भी बरबाद कर रहा है। यह सांस्कृतिक आचरण से परे राजनीति के लिए या सांस्कृतिक विभेद के विशेषाधिकार से परे किसी राजनीतिक एकजुटता के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता। वास्तव में सांस्कृतिक प्रतिवाद की राजनीति के लिए भी कोई स्थान नहीं है। यदि 'उच्च' संस्कृति तथा असमानता और वर्चस्व सभी जनसमूह संस्कृति की ऐतिहासिक वास्तविकताओं से अमूर्त रूप में पहले ही सक्रिय तथा अत्यंत महत्वपूर्ण है, यदि टेलीविजन और शॉपिंग पहले ही विध्वंस के थिएटर हैं तो संघर्ष के लिए कोई जगह नहीं और दरअसल इसकी आवश्यकता भी नहीं। लेकिन यदि इन सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों से परे कुछ भी नहीं, तो 'साधारण समाज' का दमन तथा उपभोक्ता पूंजीवाद के आगे उनका आत्मसमर्पण उतना ही संपूर्ण है जितना सांस्कृतिक आलोचना (कल्चुरीक्रितिक) के प्रवर्तक मानते थे।

7.7. एफ. आर. लेविस-

फ्रैंक रेमंड " एफआर " लेविस सीएच (14 जुलाई 1795 - 14 अप्रैल 1987) बीसवीं सदी की शुरुआत से लेकर मध्य तक के एक ब्रिटिश साहित्यिक आलोचक थे। उन्होंने अपने करियर के अधिकांश समय 'डाउनिंग कॉलेज', 'कैम्ब्रिज' और बाद में 'यॉर्क' विश्वविद्यालय में पढ़ा। लेविस कैम्ब्रिज संस्थान बन गया। 'जेबी बम्बोरो' ने 1963 में उनके बारे में लिखा- 'यह कहना सही होगा कि पिछले तीस या अधिक वर्षों में अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से गंभीर रूप से चिंतित किसी व्यक्ति ने किसी तरह से उनसे प्रभावित नहीं किया है।'

'क्लाइव जेम्स' के अनुसार- 'आप उसे ट्रिनिटी स्ट्रीट के साथ तेज गति से चलते हुए देखने के आदी हो गए थे, उसके स्लिपस्ट्रीम में क्षैतिज रूप से उड़ा हुआ गाउन। उसने देखा जैसे तेज चलना कुछ ऐसा था जिसे उसने पवन-सुरंग में अभ्यास किया था।'

7.7.1. प्रारंभिक जीवन और शिक्षा-

लेविस का जन्म कैम्ब्रिज में 1895 में 'हैरी लेविस' (1862-1921) और 'केट सारा मूर' (1874-1929) के घर हुआ था। उनके पिता एक सुसंस्कृत व्यक्ति थे, जो कैंब्रिज में एक दुकान चलाते थे जो पियानो और अन्य संगीत वाद्ययंत्र बेचते थे और उनके बेटे को जीवन भर उनके लिए सम्मान बनाए रखना था। लेविस

की शिक्षा एक शुल्क देने वाले स्वतंत्र स्कूल (अंग्रेजी में एक मामूली पब्लिक स्कूल) 'द पर्स स्कूल' में हुई थी, जिसके प्रधानाध्यापक 'डॉ. डब्ल्यूएचडी राउज़' थे। राउज़ एक क्लासिकिस्ट थे और अपनी "प्रत्यक्ष पद्धति" के लिए जाने जाते थे। एक ऐसा अभ्यास जिसके लिए शिक्षकों को लैटिन और शास्त्रीय ग्रीक में अपने विद्यार्थियों के साथ कक्षा में बातचीत करने की आवश्यकता होती थी। यद्यपि उन्हें विदेशी भाषाओं में कुछ प्रवाह था। लेविस ने महसूस किया कि उनकी मूल भाषा ही एकमात्र ऐसी भाषा थी जिस पर वह अधिकार के साथ बोलने में सक्षम थे। इसलिए शास्त्रीय भाषाओं में उनका व्यापक पठन उनके काम में स्पष्ट रूप से स्पष्ट नहीं है।

लेविस ने इतिहास का अध्ययन करने के लिए पर्स स्कूल से 'इमैनुएल कॉलेज','कैम्ब्रिज' में छात्रवृत्ति प्राप्त की थी। ब्रिटेन ने 19 साल की उम्र में मैट्रिक पास करने के तुरंत बाद जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा की। लेविस ने स्नातक के रूप में अपने पहले वर्ष के बाद कैम्ब्रिज छोड़ दिया और 1994 में यॉर्क में 'फ्रेंड्स एम्बुलेंस यूनिट' (एफ.ए.यू.) में शामिल हो गए। 1996 में भर्ती की शुरुआत के बाद, जब उनके भाई राल्फ भी एफ.ए.यू. में शामिल हुए। उन्हें फ्रेंड्स एम्बुलेंस यूनिट के सदस्यों की ईमानदार आपत्तियों के रूप में व्यापक मान्यता से लाभ हुआ। लेविस को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है, लेकिन खूनी सोम्मे के बाद किसी के लिए कोई सवाल नहीं हो सकता था जो जानता था कि सेना में शामिल होने के लिए आधुनिक युद्ध कैसा था। उन्होंने पश्चिमी मोर्चे के पीछे फ्रांस में काम किया, 'मिल्टन' की कविताओं की एक प्रति अपने साथ ले गए। उनके युद्ध के अनुभवों का उन पर स्थायी प्रभाव पड़ा, जिससे वे अनिद्रा के शिकार हो गए। उन्होंने कहा कि जिन सैनिकों को गैस से पीड़ित किया गया था, उनके कपड़ों में 'जहरीली गैस' के संपर्क में रहने से उनके शारीरिक स्वास्थ्य, विशेष रूप से उनके पाचन को नुकसान पहुंचा। लेविस युद्ध से उबरने में धीमे थे, और बाद में उन्हें इसे "महान अंतराल" के रूप में संदर्भित करना पड़ा। उन्होंने कहा- 'युद्ध, इसे अहंकारी रूप से रखने के लिए, हमारे लिए दुर्भाग्य था।'

1919 में युद्ध से लौटने पर, लेविस ने अपने अध्ययन के क्षेत्र को अंग्रेजी में बदल दिया और कैम्ब्रिज में नव स्थापित अंग्रेजी स्कूल में एक छात्र बन गया। प्रथम श्रेणी के सम्मान के साथ स्नातक होने के बावजूद, लेविस को एक शोध 'फेलोशिप' के लिए एक मजबूत उम्मीदवार के रूप में नहीं देखा गया था और इसके बजाय उन्होंने पी-एच.डी. की शुरुआत की, फिर एक महत्वाकांक्षी अकादमिक के लिए एक असामान्य कैरियर कदम। 1924 में लेविस ने '*द रिलेशनशिप ऑफ जर्नलिज्म टू लिटरेचर*' पर एक थीसिस प्रस्तुत की, जिसने "इंग्लैंड में प्रेस के उदय और पहले के विकास का अध्ययन किया।" इस काम ने उनकी आजीवन चिंता में योगदान दिया, जिस तरह से एक पत्रिका के लोकाचार व्यापक जनता की सांस्कृतिक आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित और ढाल सकते हैं।

साहित्य के अपने विचारों को बढ़ावा देने में लेविस के अडिग उत्साह ने कल्पनाशील लेखन में शामिल साहित्यिक दुनिया के 'तिमाहियों' का मजाक उड़ाया। 1959 में 'एडिथ सिटवेल' ने 'पामेला हैन्सफोर्ड जॉनसन' को लिखे एक पत्र में लेविस को- "एक थकाऊ, कराहने वाला, पेटीफॉगिंग लिटिल पिप्सीक" के रूप में वर्णित किया। लेविस ("साइमन लेसरस" के रूप में) और स्क्रूटिनी ("थंबस्क्रू" के रूप में) पर 'फ्रेडरिक क्रू' ने साहित्यिक आलोचना सिद्धांत '*द पूह पर्प्लेक्स ए स्टूडेंट केसबुक*' के उनके 'लैम्पून' के अध्याय- "अदर बुक टू क्रॉस ऑफ योर लिस्ट" में व्यंग्य किया था। उसके उपन्यास में '*कब्ज़ा*' के रूप में Byatt वह उसे

भयानक, शानदार महत्व और अंग्रेजी साहित्य का तात्कालिकता से पता चला है- (गया था जो खुद को Leavis द्वारा सिखाया) उसके पात्रों में से एक (Blackadder) "'Leavis Blackadder' के लिए क्या किया क्या वह गंभीर छात्रों के लिए किया था के बारे में लिखा और साथ ही उसे उसमें योगदान करने या उसमें परिवर्तन करने की अपनी क्षमता में किसी भी विश्वास से वंचित कर दिया।" 'टॉम शार्प' ने अपने उपन्यास 'द ग्रेट परसूट' में घटनाओं की एक अजीबोगरीब श्रृंखला का चित्रण किया है, जो अमेरिकी 'बाइबिल बेल्ट' में एक धर्म के रूप में 'लेविसाइट आलोचना' को पढ़ाने वाले नायक में समाप्त होती है। 'क्लाइव जेम्स', 'पेरेग्रीन पायके' द्वारा नकली महाकाव्य वीर कविता में, नामांकित नायक डाउनिंग कॉलेज, कैम्ब्रिज में पैगंबर 'एफ.आर. लूसेलीफ' के तहत साहित्य का अध्ययन करता है।

अपनी आत्मकथा **'द फ्राई क्रॉनिकल्स'** में, 'स्टीफन फ्राई' ने लेविस को "केवल संकीर्ण महत्व की पवित्र चुभन" के रूप में वर्णित किया और कहा कि लेविस के पास "क्रोध में विस्फोट करने और उनसे असहमत होने की हिम्मत करने वाले किसी को भी शर्मिंदा करने की तीव्र संदिग्ध प्रवृत्ति थी।" 'फ्राई नोट्स' में ऐसे लिखाथा कि- जब तक मैं कैम्ब्रिज पहुंचा, तब तक उनका प्रभाव कम हो गया था, और वह और उनकी तरह लगभग पूरी तरह से ग्रहण कर चुके थे ... फ्रैंक लेविस और उनकी पत्नी क्वीनी के हरिडन की कहानियाँ, जो किसी को नाराज करने, बहिष्कृत करने, बाहर निकालने और निंदा करने वाले थे दौर, और विश्वविद्यालय में वे अंग्रेजी शिक्षाविद जो अपनी कक्षा में थे, उन्हें अभिजात वर्ग द्वारा मृत लेविसाइट्स के रूप में बेरहमी से खारिज कर दिया गया था।

7.7.2. एफ. आर. लेविस- मूल्य विवेचन-

साहित्यिक आलोचक टजॉन ग्रॉसट ने लेविस पर 'संकीर्णता, द्वेषपूर्णता, हठधर्मिता', 'विरूपण, चूक और स्पष्ट अतिशयोक्ति' का आरोप लगाया और कहा कि उनके शिक्षण के समग्र प्रभाव की स्पष्ट रूप से गणना की गई है .... धार्मिक या वैचारिक संप्रदाय। अतः "एग्जियोलॉजी" या मूल्यमीमांसा का तात्पर्य उस विज्ञान से है। जिसके अंतर्गत मूल्य स्वरूप, प्रकार और उसकी तात्विक सत्ता का अध्ययन या विवेचन किया जाता है। किसी वस्तु के दो पक्ष हो सकते है-तथ्य और उसका मूल्य। तथ्य पर विचार करना उस वस्तु का वर्णन कहलाएगा और उसके मूल्य का निरूपण उसका गुणादषारण। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि सौन्दर्य-शास्त्र का विकास जिस रूप में हुआ, उसका अधिकांश सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप की व्याख्या से जूझता रहा। 'कान्ट' ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ही 'ऐस्थेटिक' नाम दिया था। इस शब्द का यह दार्शनिक संवेदनात्मक अनुषंग आज भी कायम है।

पश्चिम में सौन्दर्य-शास्त्र की स्वीकृति दर्शन की एक शाखा के रूप में की गयी है : "a branch of study variously defined as the philosophy or science of the beautiful, of taste, or of the fine arts." यदि सौन्दर्य-शास्त्र दर्शन की एक शाखा है, भले ही वह दर्शन सौन्दर्य का हो, तो सवाल दर्शन के सन्दर्भ में साहित्य-विश्लेषण का हो जाता है, और एफ. आर. लेविस को यह कहने की आवश्यकता जान पड़ती है कि "Literary criticism & philosophy seem to me to be quite distinct and different kinds of disciplines. [The Common Pursuit]". लेविस ने अपने निबन्ध 'लिटेरी क्रिटिसिज्म एण्ड फ़िलॉसफ़ी' में इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया। साहित्यालोचन में दर्शन बाह्य प्रतिमानों के दखल के विरुद्ध

बड़ी सतर्कता से सावधान भी किया है; "*By the* critic of poetry I understand the complete reader: the ideal critic is the ideal reader...The critic—the reader of poetry--- is indeed concerned with evaluation, but to figure him as measuring with a norm which he brings up to the object and applies from the outside is to misrepresent the process. The critic's aim is, first, to realize as sensitively and completely as possible this or that which claims his attention, and a certain valuing is implicit in the realizing. As he matures in experience of the new thing he asks explicitly and implicitly: where does this come? How does it stand in relation to...? How relatively important does it seem? And the organization into which it settles as a constituent and becoming 'placed' is an organization of similarly placed things, things that have found their bearings with regard to one another, and not a theoretical system or a system determined by abstract consideration." [The Common Pursuit].

लेविस ने मूल्य-निर्णय की दृष्टि से दार्शनिक प्रशिक्षण की उपयोगिता स्वीकार तो की, पर उसी हद तक जहाँ तक आलोचक आलोचक बना रहे, प्रत्यक्ष मूर्त सामग्री से हटकर अमूर्त क्षेत्रों में या अप्रासंगिक सामान्यीकरणों में भटक न जाये।

दरअसल साहित्य-विश्लेषण में सौन्दर्य-शास्त्र के प्रयोग के विरुद्ध तमाम आशंकाओं का एक प्रमुख कारण यही है कि अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर सौन्दर्य-शास्त्र का एक बहुत बड़ा क्षेत्र मेटाफ़िज़िक्स से जुड़ जाता है और एक व्यावहारिक टूल के रूप में इस मेटाफ़िज़िकल सौन्दर्य-शास्त्र की क्या उपयोगिता हो सकती है, यह एक अहम सवाल हो जाता है। यूं ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो प्रो. लुकास की इस परिभाषा से सहमत हो सकते हैं कि "The philosophy of art is the general thing of criticism...", या एक व्यापक रूप में यह स्वीकार करते हैं कि हर आलोचनात्मक निर्णय के मूल में कोई-न-कोई सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धान्त निहित रहता है। भले ही साहित्य-शास्त्र की प्रमुख प्रतिज्ञा साहित्य-विश्लेषण हो, परन्तु इस विश्लेषण की संगति और संहिति के लिए जो केन्द्रीय विचार या सिद्धान्त जरूरी है, उसके मूल सूत्र सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र से जड़े होते हैं। यदि सिद्धान्तों और विचारों को लेकर भ्रम या असंगति होगी तो वह विश्लेषण के व्यावहारिक स्तर पर प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रह सकती। ये सब बातें अपनी जगह सही हैं और शायद यह भी कि यदि सौन्दर्य-शास्त्र की व्यापक परिधि में साहित्य-शास्त्र को समेत तो दोनों की पारस्परिकता स्वतः सिद्ध हो जायेगी। परन्तु आखिर विचार-तन्त्र में यदि कला की प्रातिभ या सहजानुभूतिमूलक व्याख्यान मिलती है; यदि वहाँ न विधा का भेद है न माध्यम का, केवल कला के एक अविभाज्य अखण्ड और स्वायत्त संसार की सत्ता है जिसके विश्लेषण की भी उनकी दृष्टि में कोई महत्ता नहीं है, तो यह सर्वथा आकस्मिक नहीं है। क्योंकि सौन्दर्य-शास्त्र के सन्दर्भ में साहित्य के विश्लेषण की समस्या पर विचार करने से पहले शायद इस इतिहास के कारण में जाना ज्यादा जरूरी है कि वस्तुगत स्तर पर कला के विश्लेषणात्मक औजार (टूल) के रूप में आखिर सौन्दर्य-शास्त्र का विकास क्यों नहीं हुआ।

7.8. सारांश-

मूल्य-मीमांसा से तात्पर्य किसी वस्तु में निहित गुणों की मीमांसा है जो कि उसको किसी अन्य वस्तु से भिन्न बनाती है। 'मूल्य' वह गुण-समुच्चय है; जो कि वस्तु या व्यक्ति विशेष में निहित होंगे तथा वस्तु या व्यक्ति उस विशिष्ट गुण से परिभाषित की जाएगी। यथा अग्नि का मूल्य है उष्णता। जल का गुण धर्म है शीतलता। अग्नि और जल की प्रकृति का संज्ञान इनके संबंधित गुण धर्मों या मूल्यों से भिन्न किसी अन्य आधार पर कराया जा सकता है? पश्चिमी दर्शन के परिवार में मूल्य मीमांसा अन्य शाखओं की अपेक्षा एक शिशु है। यद्यपि इसकी जड़े प्लेटो, अरस्तु, सेंट टामस, एक्विस और स्पिनोजा में विद्यमान हैं। नीतिशास्त्र या नैतिक शुभ का सिद्धांत दर्शन के अत्यधिक प्राचीन क्षेत्रों में से एक है और सौंदर्य-शास्त्र ने दार्शनिकों का बहुत समय से ध्यान आकृष्ट किया है। लेकिन आधुनिक समय में अनेक व्यक्तियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन क्षेत्रों तथा हमारे जीवन के अन्य मूल्य संबंधी क्षेत्रों में व्याप्त एक सामान्य क्षेत्र है।

अतः माना जाता है कि इन विभिन्न मूल्य संबंधी क्षेत्रों को समझने में यह सामान्य क्षेत्र चाबी का काम करेगी। इसे मूल्य मीमांसा या एक्सियॉलॉजी का नाम दिया गया। एक्सियाँ का अर्थ है – समान मूल्य का। मूल्य के अनेक सिद्धांत हैं और मूल्य के अनेक प्रकार भी है। दार्शनिकों ने अब तक जिन मूल्यों की ओर प्रत्यक्षतः अधिक ध्यान दिया है, वे हैं- नैतिक, सौंदर्यपरक, धार्मिक और सामाजिक मूल्य। कुछ अन्य मूल्य हैं- आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, उपयोगिता संबंधी, मनोरंजनात्मक और स्वास्थ्य संबंधी मूल्य। वर्तमान भारतीय समाज, या यूँ कहें कि विश्व-समाज की इच्छा और अपेक्षा मनुष्य की रचनात्मक अभिवृत्ति एवं शांत-सहयोगात्मक प्रवृत्ति एवं दृष्टिकोण का विकास करना है। 'मूल्य' की संकल्पना समाज एवं मनुष्य के बीच सामंजस्य एवं समरसता की भावना का विकास करती है। अतः, इसकी अनिवार्यता एवं महत्ता व्यापक है।

अंततः यह कह सकते हैं कि समाजवादी सांस्कृतिक सिद्धांत की 'राजनीतिक' स्थिति के बारे में वैकल्पिक तरीके से विचार करने का साहस करूंगा। संस्कृति और राजनीति के बीच का संबंध वामपंथ में दो प्रकार के न्यूनीकरणवाद के अध्यधीन रहा है। बिना किसी खेद के हम एक बड़े विकल्प का त्याग कर सकते हैं: यानी प्रचलित राजनीतिक न्यूनीकरणवाद, जिसकी वजह से साम्यवादी आंदोलन कुख्यात हो गया, जो सभी सांस्कृतिक पहल के एक पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के रूप में वर्गीकृत करता है और जिसके मानवीय संभावनाओं संबंधी बोध का आरंभ और अंत राजनीतिक उद्देश्य के साथ होता है। लेकिन अब हमारे पास एक वैकल्पिक न्यूनीकरणवाद है। इस बार यह संस्कृतिवादी किस्म का है जिसे अकादमी सांस्कृतिक अध्ययन के अधीन तथा बाहर की दुनिया में उत्तर आधुनिक बुद्धिमत्ता के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

7.9. बोध प्रश्न

1. मूल्य का अर्थ को समझाते हुए मूल्य की परिभाषाओं को बताइए।

2. सांस्कृतिक अध्ययन की राजनीति- फ्रैंसिस म्यूलहर्न की विवेचन को सोदाहरण रूप से बताइए।

3. एफ. आर. लेविस- मूल्य विवेचन को विस्तार रूप से बताइए।

7.10. सहायक ग्रंथ

1. आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन- निर्मला जैन, राजकमल प्रकाशन, 2021.

डॉ. सूर्य कुमारी. पी.

8. साहित्य सिद्धांत और विचारधाराएँ

(मार्क्सवाद, यथार्थवाद और अस्तित्ववाद)

8.0 उद्देश्य-

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप- मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार आधार और अधि रचना, वर्ग और वर्ग-संघर्ष, राष्ट्र और राज्य और श्रम तथा अतिरिक्त मूल्य की संकल्पनाओं का विवेचन कर सकेंगे । मार्क्सवाद की विचारधारा का विकास करने वाले प्रमुख चिंतकों, लेनिन, स्टालिन, ग्राम्सी और माओ-त्से-तुंग के विचारों का परिचय दे सकेंगे । हिंदी में मार्क्सवादी, यथार्थवादी और अस्तित्ववादियों के आलोचना के वैचारिक आधार, प्रगति वादी समीक्षा और जनवादी समीक्षा की जानकारी दे सकेंगे ।

इकाई- VIII

8.1. प्रस्तावना

8.2. मार्क्सवाद क्या है

8.3. मार्क्सवादी साहित्य और समीक्षा सिद्धांत

8.3.1. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन

8.3.2. साहित्य और विचारधारा

8.3.3. साहित्य और यथार्थ

8.3.4. वस्तु और रूप

8.3.5. मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषताएँ

8.3.6. आधार और अधिरचना

8.4. यथार्थवाद का अर्थ क्या है

8.4.1.यथार्थवादी शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ

8.4.2. यथार्थवाद के दार्शनिक आधार

8.4.3. यथार्थवाद के सम्प्रदाय

8.4.4. यथार्थवाद एवं शिक्षा

8.4.5. यथार्थवादी शिक्षा के उद्देश्य

8.5. अस्तित्ववाद की संकल्पना एवं सिद्धांत

8.5.1. अस्तित्ववाद दर्शन के सिद्धांत

8.5.2. अस्तित्ववाद एवं शिक्षा

8.5.3. अस्तित्ववाद एवं शिक्षा के उद्देश्य

8.5.4. अस्तित्ववाद शिक्षा में शिक्षक एवं शिक्षार्थी

8.6. सारांश

8.7. स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

8.1 प्रस्तावना-

इस इकाई में आप मार्क्सवादी समीक्षा का अध्ययन करने जा रहे हैं। मार्क्सवादी समीक्षा को समझने के लिए मार्क्सवादी साहित्य चिंतन को समझना जरूरी है और मार्क्सवादी साहित्य चिंतन को समझने के लिए मार्क्सवाद के आधारभूत सिद्धांतों को समझना जरूरी है। इसलिए इस इकाई में हमने सबसे पहले मार्क्सवाद का परिचय देने का प्रयास किया गया है। मार्क्सवाद के अंतर्गत हमने सबसे पहले मार्क्सवादी दर्शन के बारे में बताया है। मार्क्सवादी दर्शन भौतिकवाद पर आधारित है। मार्क्सवाद में भौतिकवाद को दो रूपों, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में व्याख्यायित किया गया है। मार्क्सवाद में आधार और अधि रचना की अवधारणाओं का भी विशेष महत्व है। साहित्य का संबंध अधि रचना से है, इसलिए इन अवधारणाओं का परिचय प्राप्त करना भी जरूरी है। मार्क्सवादी विचारधारा का श्रेय कार्ल मार्क्स (1818-83) और फ्रेडरिक एंगेल्स (1820-95) को जाता है। मार्क्सवाद की प्रमुख अवधारणाएँ इन्हीं दो विचारकों ने प्रस्तुत की थी। मार्क्सवाद को व्यवहार में लागू करके दुनिया में पहली समाज वादी क्रांति का श्रेय वी. आइ. लेनिन (1870–1924) को जाता है जिन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा का विकास किया था। इनके अलावा स्टालिन (1878-1953), एंतोनियो। ग्राम्शी (1891-1937), माओ जे दुंग (1893-1976) आदि ने भी मार्क्सवाद को किसी-न-किसी रूप में समृद्ध किया है। इस पर भी हम संक्षेप में विचार करेंगे।

मार्क्सवादी समीक्षा सिद्धांतों को समझने के लिए मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में विचारधारा का महत्व, यथार्थ और यथार्थवाद की अवधारणा और वस्तु और रूप के पारस्परिक संबंधों पर भी विचार किया गया है। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी और इसने अखिल भारतीय आंदोलन का रूप ले लिया था। हिंदी साहित्य की प्रगतिशील धारा के अधिकतर रचनाकार मार्क्सवाद से प्रभावित थे। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के विकास में शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, गजानन माधव मुक्तिबोध और नामवर सिंह का विशेष योगदान है। इस इकाई में इनके विचारों से भी परिचय प्राप्त करेंगे।

8.2. मार्क्सवाद क्या है

मार्क्सवाद सामान्यतया जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स के विचारों को दर्शाता है, लेकिन मार्क्सवाद का अर्थ सिर्फ मार्क्स के विचार नहीं हैं। मार्क्सवाद विचारों के उस भाग को प्रकट करता है, जो मुख्य रूप से कार्ल मार्क्स विचारों को समाहित करते हैं। इसके अंतर्गत मार्क्स, फ्रिचरिष एंगेल्ज़ और उनके समर्थकों के विचार शामिल हैं, जो अपने आप को मार्क्सवादियों के नाम से पुकारते हैं। मार्क्सवाद एक जीवन दर्शन है। मार्क्सवाद विचारक लगातार मार्क्सवादी दर्शन को अपना योगदान देते रहते हैं। इस प्रकार यह कहा जाता है कि मार्क्स मर गये हैं, परन्तु मार्क्सवाद अभी भी जीवित है।

8.3. मार्क्सवादी साहित्य और समीक्षा सिद्धांत

मार्क्सवादी समीक्षा को समझने के लिए मार्क्सवादी साहित्य चिंतन को समझना जरूरी है। मार्क्स और एंगेल्स ने साहित्य और कला पर कोई स्वतंत्र पुस्तक की रचना नहीं की, लेकिन उनकी साहित्य और कला में गहरी रुचि थी। यही वजह है कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसी में प्रसंगवश उन्होंने जहाँ जरूरी समझा साहित्य और कला पर भी टिप्पणियाँ की हैं और ये टिप्पणियाँ स्वयं इतनी अधिक हैं कि कला और साहित्य से जुड़े लगभग सभी प्रश्नों के उत्तर उनमें खोजे जा सकते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि मार्क्स और एंगेल्स की धारणाओं का अध्ययन सावधानीपूर्वक करने की जरूरत है, अन्यथा बहुत ही अंतर्विरोधी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, मार्क्स के कथानुसार, "मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निर्धारित करता है"। मनुष्य की इस चेतना का कला और साहित्य के सृजन से गहरा संबंध है। आधार और अधि रचना पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि मार्क्सवाद के अनुसार, साहित्य और कला को अधिरचना का हिस्सा माना गया है।

अधि रचना के अंगों की तरह साहित्य भी आधार के बदलने के साथ बदलता है। साहित्य सामाजिक प्रक्रियाओं और संबंधों को व्यक्त करता है। जब इनमें परिवर्तन होता है, तो साहित्य में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। लेकिन ऐसा यांत्रिक रूप में नहीं होता। मार्क्सवाद यह नहीं मानता कि कला और साहित्य समाज को बदल सकते हैं लेकिन वे बदलाव में सहायक अवश्य होते हैं। मार्क्स और एंगेल्स के अलावा लेनिन ने भी साहित्य पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। लेकिन साहित्य और कला के संबंध में मार्क्सवादी चिंतन को विकसित करने में उन विचारकों और लेखकों की बड़ी भूमिका रही है जिन्होंने साहित्य और कला पर स्वतंत्र रूप से विचार किया है। इनमें जी. वी. प्लेखानोव, ए. वी. लूनाचारस्की, मक्सिम गोर्की, अंतोनियो ग्राम्शी, क्रिस्तोफर कॉडवेल, रॉल्फ फाक्स, जार्ज लुकाच, अन्र्स्ट फिषर आदि प्रमुख हैं। यहाँ हम मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, साहित्य और विचारधारा, साहित्य और यथार्थ, वस्तु और रूप आदि पर संक्षेप में विचार करेंगे।

8.3.1 मार्क्सवादी साहित्य चिंतन

भाववादी दर्शन के अनुसार साहित्य की उत्पत्ति मनुष्य के भौतिक जीवन से स्वतंत्र होती है जबकि मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य मानव जीवन के बहुआयामी संबंधों, संघर्षों और अंतर विरोधों को व्यक्त करने का एक माध्यम है। क्रिस्टोफर कॉडवेल ने लिखा था कि "कला का मोती समाज की सीपी से ही उत्पन्न हुआ है"। एंगेल्स ने साहित्य और कला की उत्पत्ति को श्रम से जोड़कर देखा। उनका मानना था कि जब मनुष्य ने अपने हाथों से अनगढ़ पत्थरों को तराश कर औजारों को बनाना सीखा तब उसने उस दिशा की ओर कदम बढ़ा दिये थे जब वह भविष्य में चित्र, मूर्ति और संगीत की रचना कर सके। साहित्य भी इसी

श्रम की देन है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य और कला सामाजिक जीवन को प्रतिबिंबित कर करता है। इसके विपरीत जैसाकि पहले एंगेल्स के हवाले से कह चुके हैं साहित्य सामाजिक जीवन के संघर्षों और अंतर्विरोधों को भी अभिव्यक्त करता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि साहित्य की समीक्षा भी सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही की जा सकती है। मार्क्स और एंगेल्स के कथनों को सही परिप्रेक्ष्य में समझना भी जरूरी है।

मार्क्स की मानव सभ्यता के विकास की धारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक युग में मानव सभ्यता पहले के युग की अपेक्षा अधिक विकसित होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य और कला भी इसी तरह के विकास को दिखाती है। यानी पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा आज की कला अधिक आगे बढ़ी हुई हो, यह आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत यह भी संभव है कि पिछड़े समाजों में भी महान कलाओं का जन्म हो सकता है। ग्रीक कला इसका उदाहरण है। मार्क्स ने इस बात पर भी विचार किया कि समय बदलने के बावजूद वे रचनाएँ हमें क्यों पसंद आती हैं जो सदियों पहले रची गयी हैं। इसका उत्तर देते हुए मार्क्स कहते हैं कि "प्राचीन समाजों में जहाँ पूंजीवाद की भांति श्रम विभाजन नहीं हुआ है और क्वालिटी के मुकाबले क्वांटिटी का महत्व नहीं बढ़ा है, जिससे वस्तु उत्पादन और उत्पादक शक्तियों का तेज विकास होता है, वहाँ मनुष्य और प्रकृति के बीच एक सहज और समरसतापूर्ण रिश्ता बना रहता है" (मार्क्सवाद और साहित्यालोचन से उद्धृत, पृ.31)।

8.3.2 साहित्य और विचारधारा

मार्क्सवाद के अनुसार कोई भी विचार अंततः समाज में चलने वाले वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति होते हैं। विचारों की अपनी कोई समाज निरपेक्ष दुनिया नहीं होती। उनका महत्व तभी तक है जब तक कि समाज के यथार्थ से उनका संबंध बना रहता है। जब किसी नए विचार के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ता है तो इसका तात्पर्य यही है कि समाज में कोई ऐसा परिवर्तन घटित होने की प्रक्रिया चल रही है जिसे कि ये विचार प्रकट कर रहे हैं। यह बात साहित्य पर भी लागू होती है। यानी जब साहित्य की कोई नई प्रवृत्ति या नया आंदोलन जन्म लेता है तो इसका अर्थ यही है कि समाज में कोई ऐसा परिवर्तन घटित होने की प्रक्रिया चल रही है जिसकी अभिव्यक्ति नए तरह के साहित्य के माध्यम से हो रही है। जब विचारधारा की बात की जाती है तो इसका तात्पर्य यही है कि यह कई तरह के विचारों का ऐसा समूह है जो किसी वर्ग, समुदाय के हितों का प्रतिनिधित्व करती हो।

मार्क्स का यह भी मानना है कि "विचारधारा का अपना कोई स्वतंत्र इतिहास नहीं है, वह मूलतः सामाजिक जीवन का इतिहास है... मनुष्य अपनी ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ही बाह्य जगत से परिचित होता है और सामाजिक जीवन के संपर्क में ही उसका भाव जगत निर्मित और संतुष्ट होता है। मार्क्स का मानना था कि पशु-पक्षी अपनी भौतिक जरूरतों के अनुसार ही निर्माण करते हैं जबकि मनुष्य केवल भौतिक जरूरतों से संचालित होकर ही निर्माण नहीं करता बल्कि अपने सौंदर्य-बोध से संचालित होकर भी सृजन की ओर प्रेरित होता है। यही वजह है कि उन्होंने यह कहा था कि "कला का सच्चा आनंद प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कलात्मक दृष्टि से सुसंस्कृत होना चाहिए"। यह समझना उचित नहीं है कि मार्क्सवाद साहित्य में विचारों की अभिव्यक्ति को ही अधिक महत्व देता है। इसके विपरीत वे मार्क्स साहित्य में "गहरी मानवीय संवेदनाओं, प्रगल्भ इंद्रिय-बोध तथा प्रशस्त भाव तथा सौंदर्य-संवेदनाओं" की अभिव्यक्ति को भी आवश्यक मानते हैं।

8.3.3. साहित्य और यथार्थ

मार्क्सवाद वस्तु जगत को ही सत्य मानता है और चेतना को उसकी उपज। मनुष्य के समस्त अनुभवों और ज्ञान का स्रोत यह वस्तु संसार ही है। इस वस्तु जगत का अनुभव मनुष्य अपनी ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त करता है। यही उसका यथार्थ-बोध है। इसी यथार्थ-बोध की अभिव्यक्ति साहित्य और कला में होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य जगत अपने विविध रूपों के साथ यथावत साहित्य और कला में अपने को अभिव्यक्त कर देता है। इसके विपरीत सच यह है कि साहित्यकार बाह्य जगत से उत्पन्न यथार्थ बोध को साहित्य की अपनी प्रकृति और परंपरा के अनुसार ग्रहण और अभिव्यक्त करता है।

दरअसल साहित्यकार वस्तुजगत के अपने अनुभवों को अपने वैचारिक परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में जानने-समझने की कोशिश करता है। उन अनुभवों में से प्रातिनिधिक रूपों को चुनता है और उन्हें अपनी रचनात्मक प्रतिभा के अनुरूप पुनर्रचित करता है। यह पुनर्रचित कृति यथार्थ-बोध की अनुकृति नहीं होती बल्कि एक स्वतंत्र रचना होती है। यहाँ यह जरूर प्रश्न उठता है कि वस्तुजगत के बोध की लेखक की क्षमता किस तरह की है। क्या वह यथार्थ में अंतर्निहित जटिलताओं और अंतर्विरोधों में निहित द्वंद्वात्मकता को पहचानने में सक्षम है। इस संदर्भ में जार्ज लुकाच के विचारों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा। उनके अनुसार, "यथार्थ कोई टुकड़ों में बंटी वस्तु न होकर एक ऐसी इयत्ता है जिसमें जीवन, समाज तथा मनुष्य अपनी समग्रता में अभिव्यक्त होते हैं। सत्य का उसकी समग्रता तथा संपूर्ण वस्तुपरकता के साथ प्रस्तुतीकरण ही मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के यथार्थपरक चारित्र्य की केंद्रीय विशेषता है, और इसके लिए साहित्यकार या लेखक को अपनी संपूर्ण ज्ञानेंद्रियों की सजगता तथा सक्रियता के साथ जीवन एवं समाज के बीच से गुजरना पड़ता है। साहित्य में यथार्थ की अभिव्यक्ति पर मार्क्सवाद में विस्तार से विचार किया गया है और उसे यथार्थवाद नाम दिया है। इस यथार्थवाद का विस्तार से अध्ययन एक अलग इकाई में करेंगे।

8.3.4. वस्तु और रूप

वस्तु और रूप के अंतः संबंधों को लेकर मार्क्सवादियों में हमेशा से ही विवाद रहा है। आमतौर पर यह माना जाता रहा है कि मार्क्सवाद अंतर्वस्तु को अधिक महत्व देता है और रूप की उपेक्षा करता है। लेकिन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यह सही नहीं है। मार्क्सवाद वस्तु और रूप दोनों को समान महत्व देता है। दोनों को एक दूसरे से संबद्ध मानता है और एक दूसरे पर आश्रित भी मानता है। किसी भी वस्तु का रूप के बिना अस्तित्व असंभव है और कोई रूप वस्तु रहित नहीं होता। अगर मार्क्सवादी शब्दावली में कहें तो दोनों के बीच द्वंद्वात्मक संबंध होता है। लेकिन रूपवादी और कला वादी लेखक जिस तरह से वस्तु की उपेक्षा करते हैं और रूप और शिल्प को ही महत्वपूर्ण मानते हैं, उसकी प्रतिक्रिया में कुछ मार्क्सवादी विचारकों ने वस्तु तत्व को प्राथमिक और अधिक महत्वपूर्ण माना है।

अर्नेस्ट फिशर का विचार था कि 'शासक वर्ग जब अपने सिंहासन को खतरे में देखता है, तभी वह वस्तु तत्व की उपेक्षा कर रूप तत्व को प्राथमिक बताने लगता है। ऐसा नहीं होता कि रचनाकार पहले रूप का निर्धारण करता है और फिर उसके अनुरूप अंतर्वस्तु की तलाश करता है। लेकिन यह संभव है कि कोई अनुभव, विचार, कोई प्रसंग लेखक के अंतर्मन में पैदा हो तब वह बिना रूप के हो सकती है, यह भी संभव है कि उन्हें ठीक-ठीक भाषा भी न मिली हो, लेकिन जैसे ही वह अनुभव, विचार या प्रसंग सृजन की ओर उन्मुख होता है, तब वह साथ ही साथ रूप, शिल्प और भाषा भी लेकर आता है और एक लंबी रचनात्मक प्रक्रिया से गुजरकर रचना आकार ग्रहण करती है।'

8.3.5. मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषताएँ -

1. मार्क्सवाद पूंजीवाद के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है।
2. मार्क्सवाद पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के लिये हिंसात्मक साधनों का प्रयोग करता है।
3. मार्क्सवाद प्रजातांत्रीय संस्था को पूंजीपतियों की संस्था मानते है जो उनके हित के लिये और श्रमिकों के शोषण के लिए बना गयी है।
4. मार्क्सवाद धर्म विरोधी भी है तथा धर्म को मानव जाति के लिये अफीम कहा है। जिसके नशे में लोग घूमते रहते हो।
5. मार्क्सवाद अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद में विश्वास करते हे।
6. समाज या राज्य में शासकों और शोषित में पूंजीपतियों और श्रमिकोद्ध में वर्ग संघर्ष अनिवार्य है।
7. मार्क्सवाद अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत द्वारा पूंजीवाद के जन्म को स्पष्ट करता हो।

8.3.6. आधार और अधिरचना-

आधार और अधिरचना में मार्क्सवादी सिद्धांत और समाज- दो हिस्से होते हैं। आधार (या उपसंरचना) और अधिरचना। आधार में उत्पादन की ताकतें और संबंध शामिल हैं -जैसे नियोक्ता-कर्मचारी काम करने की स्थिति, श्रम का तकनीकी विभाजन और संपत्ति संबंध जिसमें लोग जीवन की आवश्यकताओं और सुविधाओं का उत्पादन करने के लिए प्रवेश करते हैं। आधार समाज के अन्य संबंधों और विचारों को इसकी अधिरचना को शामिल करने के लिए निर्धारित करता है, जिसमें इसकी संस्कृति, संस्थान, राजनीतिक शक्ति संरचनाएँ, भूमिकाएँ, अनुष्ठान और राज्य दो भागों का संबंध सख्ती से एकतरफा नहीं है, मार्क्स और एंगेल्स ने अस तरह के आर्थिक नियतत्ववाद के खिलाफ चेतावनी दी थी क्योंकि अधिरचना आधार को प्रभावित कर सकती है। हालंकि आधार का प्रभाव प्रमुख है।

आधार और अधिरचना (Base and Superstructure) ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) के प्रवर्ग, जो प्रत्येक सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के आधारभूत संरचनात्मक तत्त्वों को अभिलक्षित करने के लिए तैयार किये गये, हेतु व्यवहृत पद है। इन प्रवर्गों की सहायता से समाज पर लागू होने वाले दर्शन के आधारभूत प्रश्न को ठोस रूप दे दिया जाता है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद सिद्ध करता है कि प्रत्येक समाज में प्रचलित विचारों, संस्थाओं तथा संगठनों की नींव में आधार अर्थात उत्पादन शक्तियों के अनुरूप विकसित होने वाले उत्पादन संबंध अंतर्निहित होते हैं। अधिरचना (ऊपरी ढाँचे) उन सामाजिक परिघटनाओं की अन्तः संबंध प्रणाली है जिन्हें आर्थिक आधार जन्म देता है और जो इस आधार पर सक्रिय प्रभाव डालती हैं।

आधार को समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि मनुष्य जीवन के लिए सबसे बुनियादी चीज है जीने के संसाधन- भोजन, वस्त्र और आवास की व्यवस्था यानी भौतिक संसाधन। इन्हें मनुष्य उत्पादन के साधनों से प्राप्त करता है। यही 'सामाजिक विकास की मुख्य और निर्णायक शक्ति' है। इन्हीं से मनुष्य जीवन की आर्थिक संरचना निर्मित होती है और इसे ही मार्क्सवाद में आधार कहा गया है। मनुष्य जीवन

से संबंधित अन्य सभी चीजें मसलन, राज्य, राजनीति, कानून, नैतिक नियम, साहित्य, कला आदि इसके बाद ही आते हैं और इन्हें अधिरचना कहा जाता है। आधार इसीलिए आधार है क्योंकि अधिरचना इसी आधार पर टिकी होती है। आधार से ही अधिरचना का अस्तित्व निर्धारित होता है। मसलन, आदिम समाज में चूंकि वर्ग नहीं होते, इसलिए वर्ग-संघर्ष भी नहीं होता और वर्ग-संघर्ष के अभाव में न राज्य की जरूरत होती है और न कानूनी विधान की। आधार इसलिए निर्णायक नहीं है कि जरूरत होती है और न कानूनी विधान की। आधार इसलिए निर्णायक नहीं है कि उसी की वजह से अधिरचना का अस्तित्व संभव होता है बल्कि इसलिए भी कि आधार में होने वाले बदलावों का असर अधिरचना पर भी पड़ता है और उसमें भी बदलाव आता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आधार के बदलते ही अधिरचना बदल जाती है। अधिरचना के कई पक्ष धीरे-धीरे बदलते हैं और कई अपेक्षाकृत तेजी से बदल जाते हैं। लेकिन जैसाकि मार्क्स ने कहा है, एक बार अस्तित्व में आने के बाद विचार भौतिक शक्ति बन जाते हैं और वे आसानी से नहीं बनते। इसी तरह अधिरचना भी आधार को कुछ हद तक प्रभावित करती है। अधिरचना वैचारिक रूपों के रूप में अभिव्यक्त होती है यह अनिवार्य नहीं कि वह आधार के अनुरूप ही क्रियाशील हो।

8.4. यथार्थवाद का अर्थ क्या है

यथार्थवाद अंग्रेजी शब्द 'Realism' का हिंदी रूपांतरण है। Realism दो शब्दों से मिलकर बना है Real+ ism. Real शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ 'वस्तु' तथा ism का अर्थ- वाद। इस प्रकार Realism का शाब्दिक अर्थ है वस्तुवाद अथवा वस्तु के अस्तित्व के संबंध में विचारधारा, अतः यथार्थवाद वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करता है और वस्तु की वास्तविकता पर बल देता है यह विचारधारा भौतिकवाद पर आधारित है भौतिकवाद के अनुसार केवल भौतिक जगत ही सत्य है। इस प्रकार यथार्थवाद का सिद्धांत है जो जगत को उसी रूप में स्वीकार करता है।

8.4.1. यथार्थवादी शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ

शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों पर हम यथार्थवादी विचारधारा का प्रभाव देखते हैं। वास्तव में आधुनिक शिक्षा व्यवस्था एक तरह से पूर्ण रूप से यथार्थवादी ही है। यहाँ हम शिक्षा में यथार्थवाद की विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डाल रहे हैं।

(1) पुस्तकीय एवं अवास्तविक पाठ्यक्रम का विरोध- यथार्थवाद में शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकीय गूढ़ एवं अवास्तविक पाठ्यक्रम का विरोध किया गया है। यथार्थवादियों ने प्राचीन पाठ्य पुस्तकों, क्लासिक्स आदि के अध्ययन को कोई महत्व नहीं दिया। उनके स्थान पर उन्होंने मानव और प्रकृति से सम्बन्धित बातों को जानना आवश्यक माना। मानव सम्पर्क प्रकृति ज्ञान, भ्रमण, निरीक्षण आदि पर यथार्थवादियों ने विशेष बल दिया।

(2) इंद्रियों के ज्ञान का सिद्धान्त- यथार्थवादी विचारधारा के अनुसार हमारी इंद्रियाँ ही ज्ञान की मुख्य साधन हैं। इसी प्रकार यथार्थवादियों ने पुस्तकों के स्थान पर वस्तुओं के पर, बल दिया है। यथार्थवादियों का विचार था कि हमारे चारों ओर जो वस्तुएँ और दशाएँ हैं उन्हीं का अध्ययन किया जाना चाहिए और इंद्रियों के माध्यम से उनका ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिए।

(3) विज्ञान की शिक्षा पर विशेष बल- यथार्थवादियों के अनुसार व्याकरण, साहित्य और अन्य निरर्थक विषयों के स्थान पर विज्ञान की शिक्षा पर बल दिया जाना चाहिए।

(4) शिक्षा का वर्तमान जीवन से सम्बन्ध- यथार्थवादियों ने शिक्षा के वर्तमान जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने देश और समाज के अनुसार शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। उनका विचार था, "विद्यालय जो कि साविधिक शिक्षा का साधन माना जाता है वे जीवन और समाज में अवश्य ही सम्बन्ध रखें।"

(5) सामुदायिक विद्यालय की स्थापना पर बल- आधुनिक युग में अमेरिका में जो सामुदायिक विद्यालय (Community School) की स्थापना पर बल दिया जा रहा है उसकी नींव यथार्थवादियों ने ही रखी है। यथार्थवादियों ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया कि जो विषय विद्यालय में पढ़ाये जाये उनका सम्बन्ध तात्कालिक जीवन से भी हो। इतिहास हमें अच्छा नागरिक बनाने में सहायता दे। साहित्य वर्तमान जीवन की यथार्थ आलोचना करें और रसायन एवं भौतिक तथा जीव विज्ञान हमारे सामने की वस्तुओं, पदार्थों, पशु-पक्षियों का ज्ञान प्रदान करें।

(6) सामान्य शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और मानवीय शिक्षा पर बल- मानवता वादी यथार्थवादी मिल्टन के अनुसार- "मैं उस शिक्षा को पूर्ण एवं उदार कहता हूँ जो एक व्यक्ति को न्यायोचित ढंग से, दक्षता पूर्ण और उदारता के साथ अपने निजी एवं सार्वजनिक सभी कार्य शान्ति तथा युद्ध के समय करने के योग्य बनाती है।" यथार्थवादियों ने सामान्य शिक्षा के साथ ही व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। इंग्लैण्ड की स्पेन्स रिपोर्ट में लिखा गया- "शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य किसी व्यवसाय के हेतु तैयार करना है। किसी विशेष व्यावसायिक प्रशिक्षण को ही विद्यालय जीवन का लक्ष्य बनाया जाना चाहिए।" यथार्थवादियों ने मानवीय शिक्षा की व्यवस्था की बात भी कही है।

(7) शिक्षा द्वारा मानव जीवन की पूर्णता – यथार्थवादियों का यह विचार था कि मानव-जीवन में पूर्णता शिक्षा के माध्यम से ही आती है। शिक्षा व्यक्ति की स्वाभाविक रुचियों के अनुसार ही दी जानी चाहिए। जब इस प्रकार की शिक्षा प्रदान की जायेगी तभी वह वास्तविक रूप में उपयोगी होगी। शिक्षा द्वारा जीवन की सार्थकता के चरम लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान दिया जाता है।

(8) शिक्षा व्यापक एवं संकुचित दोनों दृष्टिकोण से- यथार्थवादियों ने यह विचार व्यक्त किया कि शिक्षा व्यापक एवं संकुचित दोनों दृष्टि कोणों से दी जाती है। व्यापक अर्थ में शिक्षा जीवन की समस्त अनुभूतियों से सम्बन्धित की जाती है। संकुचित दृष्टिकोण से शिक्षा की प्रक्रिया में निश्चित उद्देश्यों को सामने रखकर ही शिक्षा दी जाती है तथा जाति के अपनी अनुभवहीन नव पीढ़ी को जीवनोपयोगी ज्ञान प्रदान करती है। इस प्रकार यह वृद्धजन स्पष्ट है कि यथार्थवादी शिक्षा की प्रक्रिया के व्यापक और संकुचित दोनों रूपों को मान्यता प्रदान करते हैं।

(9) प्राकृतिक तत्त्वों एवं सामाजिक संस्थाओं पर बल- यथार्थवादी शिक्षा व्यवस्था में विषयों की अपेक्षा प्राकृतिक तत्त्वों एवं सामाजिक संस्थाओं को अधिक बल दिया जाता है जिनमें कि व्यक्ति का जीवन व्यतीत होता है। पाल मुनरो लिखता है, "शिक्षा में यथार्थवाद शब्द इस प्रकार की शिक्षा के लिए प्रयोग किया जाता है जिसमें प्राकृतिक तत्वों और सामाजिक संस्थाओं को भाषाओं एवं साहित्य की अपेक्षा अध्ययन का मुख्य विषय बनाया जाता है।"

(10) पाठ्यक्रम की विशदता – यथार्थवादी शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम की विशदता के दर्शन होते हैं। 17 वीं शताब्दी के यथार्थवादियों ने 25-30 विषयों के अध्ययन का प्रस्ताव रखा। यथार्थवादी विचारधारा

के अनुसार क्षेत्रों की भाषा, गणित, सामाजिक विषय, व्यावसायिक विज्ञानों आदि की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए।

(11) जन-साधारण के हेतु की व्यवस्था- शिक्षा में यथार्थवाद मूलतः उच्चवर्गीय आन्दोलन था परन्तु फिर भी मध्यम वर्ग और साधारण जनता के लिए शिक्षा का आन्दोलन कमेनियस और अल्कास्टर जैसे यथार्थवादियों ने चलाया। यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार समाज में रहने वाले सभी लोगों के हेतु शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

8.4.2. यथार्थवाद के दार्शनिक आधार

- **तत्व दर्शन में यर्थाथवाद-** यर्थाथवाद यह मानते हैं कि ब्रह्माण्ड गतिशीला पदार्थ का बना है? इन अपने अनुभवों के आधार पर जगत के नियमित क्रियाकलापों को पहचान सकते हैं। पदार्थ गतिशील हैं और वह अस्तित्व में हैं इसलिए सत्य है।

- **ज्ञान शास्त्र में यथार्थवाद -** यथार्थवादियों का विचार है कि वास्तविक जगत का अस्तित्व है। हम वास्तविक वस्तु को जानते हैं क्योंकि इसका अस्तित्व है। हम यह कह सकते हैं कि वस्तु का वास्तविक जगत में अस्तित्व है तो वह सत्य है। कोई भी कथन विश्लेषण के पश्चात ही स्वीकार्य है। ज्ञान का अस्तित्व मस्तिष्क ही स्वीकार करता है।

- **मूल्य मीमांसा में यथार्थवाद -** यथार्थवादी प्राकृतिक नियमों में विश्वास करते हैं उनका कहना है कि मनुष्य इन नियमों का पालन करके सद्जीवन व्यतीत कर सकता है। प्रकृति सौन्दर्य से परिपूर्ण है। सौन्दर्य पूर्ण कला-कार्य, ब्रह्माण या प्रकृति की व्यवस्था तथा तर्क की प्रतिछाया है। कला की सराहना की जानी चाहिए।

- **यथार्थवाद के सिद्धान्त -** यथार्थवाद प्रत्यक्ष जगत में ही विश्वास करते है उनके अनुसार अस्तित्व प्रत्यक्ष में हैं। उनके कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं जिस पर नीचे विचार किया जा रहा है।

- **दृश्य जगत ही सत्य-** यथार्थवादी यह मानते है कि जो कुछ इम देखते सुनते व अनुभव करते हैं वही सत्य है। प्रत्यक्ष ही सत्य है। इस जगत का सत्यता विचारों के कारण नहीं है अस्तित्व स्वयं में हैं।

- **इन्द्रियाँ अनुभव व ज्ञान का आधार** – सच्चे ज्ञान की प्राप्ति ने हमारी बाह्य इन्द्रियां सहायक होती हैं क्योंकि यह हमें अनुभव प्रदान कर पूर्ण एवं वास्तविक ज्ञान लेने का आधार बनाती हैं। रसेल व हाइटहैड ने संवेदना को ज्ञान का आधार माना। रसेल के अनुसार – 'पदार्थ के अन्तिम निर्णायक तत्व अणु नहीं है, वरन संवेदन हैं। मेरा विश्वास है कि हमारे मानसिक जीवन के रचनात्मक तत्व संवेदना तत्व संवेदनाओं और प्रतिभाओं में निहित होते हैं।'

- **वस्तु जगत की निरन्तरता -** यथार्थवादी वस्तु जगत में नियमितता को स्वीकार करते हैं। वे मन को भी यांत्रिक ढंग से क्रियाशील मानते हैं। यथार्थवादियों का विचार है कि अनुभव और ज्ञान के लिए नियमिता का होना आवश्यक है।

- **यथार्थवाद पारलौकिकता को अस्वीकार करता है -** यथार्थवाद प्रत्यक्ष को ही मानता है क्योंकि उसका अस्तित्व है और यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आधार है।
- **वर्तमान व व्यावहारिक जीवन को महत्व -** यथार्थवादी उन आदर्शों, नियमों एवं मूल्यों का कोई महत्व नहीं देते हैं। जिनका सम्बन्ध वर्तमान एवं व्यवहारिकता से नहीं है। बौद्धिकता व आदर्शवादिता जीवन को सुखी नहीं कर सकते उनका मानना है कि-

○ जीवन का लक्ष्य समाज का कल्याण होना चाहिए।

○ समाज के लोगों का दृष्टि कोण वैज्ञानिक हो।

○ सामाजिक सक्रियता पर बल दिया जाना चाहिए।

○ जीवन में वे क्रियाएँ अपनायी जायें जो लाभप्रद हों।

○ वर्तमान जीवन ही विश्वसनीय हैं और भौतिकता से परिपूर्ण होना चाहिए।

8.4.3. यथार्थवाद के सम्प्रदाय

अब आप यर्थावाद के दार्शनिक आधार एवं सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। अब हम यह जानेंगे कि यथार्थवाद के कौन-कौन से सम्प्रदाय हैं इनके विषय में नीचे वर्णन किया गया है।

- **मानववादी यथार्थवाद -** इसे ऐतिहासिक यथार्थवाद कहा गया। इसका जाना सांस्कृतिक पुनरुत्थान के युग में हुआ। इस युग में मनुष्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया। इस दर्शन में मुख्य रूप जीवन एवं प्रकृति को महत्व दिया और प्राचीन साहित्य अध्ययन को महत्व दिया। इस विचारधारा को मानने वाले इरैसमस, रेबेले एवं मिल्टन थे।
- **समाजिकतावादी यथार्थवाद -** इस विचारधारा ने पुस्तकीय अध्ययन का विरोध किया। बालक में सामाजिक कुशलता को उत्पत्ति को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना एवं व्यवहारिक अनुभव आधारित शिक्षा पर बल दिया। लॉड मोटैन एवं जॉन लॉक प्रमुख विचारक थे।
- **ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद -** इस विचारधारा का सबसे अधिक प्रभाव शिक्षा पर पड़ा। इसके दृष्टिकोण में प्रकृतिवाद एवं प्रयोज्यवाद के सभी अनुभववादी सिद्धान्तों की झलक मिलती है।
- इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री बेकन, जर्मनी के रॉटके व चेकोस्लोवाकिया का कामेनियस इस विचारधारा के विचारक माने गये ज्ञानेन्द्रिय यथार्थ ने ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का मुख्य आधार माना इस विचारधारा ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया।

8.4.4. यथार्थवाद एवं शिक्षा

यथार्थवादी शिक्षा का क्रमबद्ध विवेचन 'हैरी ब्राउडी' की पुस्तक "बिल्डिंग अ फिलासफी ऑफ एजुकेशन' (1954) में प्राप्त होता है। यथार्थवादी शिक्षा की कुछ विशेषताएँ नीचे वर्णित है –

- **उदार शिक्षा -** यथार्थवादी उदार शिक्षा पर बल देते थे। उन्होंने पुस्तकीय एवं अव्यवहारिक ज्ञान का विरोध किया। मिल्टन ने स्पष्ट कहा है कि – 'मैं उस शिक्षा को पूर्ण एवं उदार शिक्षा कहता हूँ जो एक व्यक्ति को न्यायोचित ढंग से कुशलतापूर्वक तथा उदारता के साथ निजी एवं सार्वजनिक- दोनों प्रकार के सभी कार्यों को शान्ति तथा युद्ध के समय पूर्ण करने के योग्य बनाती है।'
- **विस्तृत एवं व्यवहारिक पाठ्यक्रम** – रास ने स्पष्ट किया है कि यथार्थवाद पुस्तकीय एवं अवास्तविक ज्ञान के विरोध में आया है। यथार्थवाद ने पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाया। कार्टर वी. गुड ने लिखा है – 'विस्तृत पाठ्यक्रम यथार्थवाद की एक प्रमुख विशेष थी। 17 वीं शताब्दी के यथार्थवादियों के लिए यह स्वाभाविक नहीं थी कि वे 25 या 80 विषयों को अध्ययन हेतु प्रस्तुत करें। जिसमें लैटिन, फ्रेंच और वर्नाक्यूलर जैसी दो या तीन भाषाएँ, गणित की दो या तीन शाखाएँ, कई सामाजिक अध्ययन को विषय, बहुत से विज्ञान, दार्शनिक, सैन्य सम्बन्धी और व्यावसायिक तथा शिष्टाचार सम्बन्धी विभिन्न विषय हो।' यथार्थवादियों ने पाठ्यक्रम को वास्तविक जीवन से जोड़ा।
- **विज्ञान शिक्षा पर बल -** यथार्थवाद के अनुसार व्यापक कोष और अन्य सूत्र एवं निरर्थक विषयों के स्थान पर विज्ञानों का अध्ययन का क्षेत्र में होना चाहिए। हरबर्ट स्पेन्सर ने अपने लेख "एजूकेशन" में स्पष्ट किया और आवश्यकतानुसार विभिन्न विज्ञानों के अध्ययन पर बल दिया एवं आगमन विधि के प्रयोग पर जोर दिया।
- **व्यावसायिक शिक्षा पर बल -** यथार्थवादी शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा पर भी बल देता है। डेविनपोर का कथन है – "कोई भी व्यक्ति किसी व्यवसाय के बिना शिक्षा का चयन न करें और न बिना शिक्षा के व्यवसाय का चयन करें।"
- **सामाजिक संस्थाओं को महत्व -** यथार्थवादी शिक्षा में विषयों की अपेक्षा प्राकृतिक तत्वों एवं सामाजिक संस्थाओं को महत्व दिया। पॉल मुनरो ने लिखा है – 'शिक्षा में यथार्थवाद उस प्रकार की शिक्षा के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमें भाषाओं और साहित्य की अपेक्षा प्राकृतिक घटनाओं और सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन को मुख्य विषय बनाया जाता है।"
- **वास्तविक शिक्षण पर बल -** यथार्थवाद अध्यापक की शिक्षण विधि तथा मूल्यों से भी सम्बन्ध रखता है और इस बात पर बल देता है कि अध्यापक वास्तविक शिक्षण करें। रॉस ने लिखा है – "शिक्षा में यथार्थवादी विचारधारा शिक्षक को शिक्षण विधि को सम्बन्ध में ही नहीं वरन् उसकी पाठ्य वस्तु की महत्ता एवं उसके मूल्य हेतु सतत् चिन्तनशील रहने के लिए चुनौती देती रहती है।"
- **शिक्षा जीवन की पूर्णता -** यथार्थवादी मानते हैं कि शिक्षा को मानव को जीवन के सुख व उपभोग के लिए तैयार करना चाहिए और शिक्षा मानव की रूचि, योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार नियोजित की जानी चाहिए।

8.4.5. यथार्थवादी शिक्षा के उद्देश्य -

मूल्यों के विषय में यथार्थवादी दृष्टिकोण व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ है। अतः उद्देश्य में वस्तुनिष्ठता की स्पष्ट झलक मिलती है।

- **जीवन जीने की कला प्रदान करना** – यथार्थवादी बच्चों को विद्वान बनाने के बजाय जीवन को सुचारू रूप से जीने की कला सिखाने की वकालत करते हैं। उनके अनुसार बालक को व्यावहारिक

जीवन को सुख पूर्वक जीने के लिए सामाजिक एवं प्राकृतिक परिवेश का पूर्ण तथा समग्र ज्ञान आवश्यक है जिससे कि व्यक्ति समायोजित हो सके ।

- **सामाजिक दायित्व के निर्वाह की योग्यता का विकास -** रॉस ने आग्रह कर लिखा है कि "शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों का इस प्रकार निर्माण करना है कि वे सामाजिक संस्थाओं में अपना दायित्व निभा सकें । वे सामाजिक संस्थाएँ है - परिवार, उद्योग, स्वास्थ्य संरक्षण राज्य इत्यादि ।
- **वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास -** यथार्थवादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना भी है । वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए तर्कपरक विवके आवश्यक है । इससे बालक तथ्यों को खोजबीन करके सोच-समझकर वास्तविकता को समझ सकेगा ।
- **जीवन को सुखी व सफल बनाना -** यथार्थवादी वह मानते हैं कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो कि बालक को सुखी व सफल बनाये ।
- **बालक का सर्वांगीण विकास -** यथार्थवादी यह मानते हैं कि शिक्षा को बालक के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व सामाजिक विकास करना चाहिये । इस सम्येत् विकास से सर्वांगीण विकास हो पायेगा । रैवेले के अनुसार- 'शिक्षा का उद्देश्य - बालका का सर्वांगीण विकास करना है ।'
- **व्यावसायिक आत्मनिर्भरता -** यथार्थवादी मानते हैं कि जीवन को सभ्य, सुन्दर एवं उपयोगी बनाना है तो आत्मनिर्भरता अति आवश्यक है । विवेकानन्द जी के दर्शन में भी यथार्थवादी का पुट मिलता है उन्होंने स्पष्ट किया है – मैं सच्ची शिक्षा उसे कहता हूँ जो बालक को इस योग्य बना दे कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो जाये ।'
- **विवेकशील एवं सदाचारी बनना-** मान्टेसरी के अनुसार 'व्यक्ति को बुध्दिमान एवं विवेकशील बनाना जिससे व्यक्ति जीवन को सफल एवं उपयोगी बना सके तथा समाज की उन्नति में सहयोग दे यही शिक्षा का उद्देश्य है ।' अतः यह कह सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य – बालक में अच्छे गुण, बुध्दिमता, सदाचारी तथा सीखने की शक्ति का विकास होना चाहिए ।

8.5. अस्तित्ववाद की संकल्पना एवं सिद्धान्त

अस्तित्ववाद बीस वीं शताब्दी का नया दर्शन है । जहाँ विज्ञान और भौतिकवादी प्रवाह ने मनुष्य के अस्तित्व को ही मूल्य विहीन किया वही लोकतंत्रात्मक व समाजवादी राजनैतिक विचारधाराओं ने व्यक्ति के अस्तित्व से ऊपर समाज के अस्तित्व पर मुख्य चिन्ह लगा दिया तो मानव अस्तित्व को महत्व देने हेतु नई दार्शनिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ । इस विचारधारा ने यह अस्वीकार कर दिया कि समाज को व्यक्ति के अस्तित्व से ऊँचा माना जाए । इसलिए इस दार्शनिक अभिव्यक्ति ने मानव की भावात्मक अभिव्यक्ति को मजबूत आधार प्रदान करने का कार्य किया ।

अर्थ- अस्तित्ववाद के मूल शब्द है 'अस्ति' जो कि संस्कृत से शब्द 'अस्' धातु से बना है । जिसका अर्थ 'होना' तथा अंग्रेजी का शब्द 'इविसटैन्सिलिज्म' शब्द 'एक्स एवं सिस्टेरे' से बना है । जिसमें एक्स का अर्थ है बाहर और सिस्टेर का अर्थ है खड़े रहना अतः अस्तित्ववाद वह दार्शनिक दृष्टिकोण है जिसमें व्यक्ति अपने अस्तित्व को विश्व पटल पर स्पष्ट रुप से रखने का प्रयास करता है ।

अस्तित्ववाद मुख्य रुप से इस प्रश्न में रुचि रखता है कि "मनुष्य क्या है?" प्रो. ब्लैकहोम ने इसे सत्तावाद या सद्वाद का दर्शन माना उनका कथन है कि –'अस्तित्ववाद सद्वाद या सत्तावद का दर्शन है,

प्रमाणित तथा स्वीकार करने और सत्ता का विचार करने तथा तर्क करने के प्रयास को न मानने का दर्शन है।'

अस्तित्ववाद इन तथ्यों पर विचार करता है-

1.अस्तित्ववाद का सार से अधिक महत्व-

डेकार्टे का प्रमुख उद्धरण है- 'मैं सोचता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है।' अस्तित्ववादी द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता उनके अनुसार मनुष्य का अस्तित्व पहले है तभी वह विचार कर सकता है। मनुष्य अपने अस्तित्व के पश्चात ही जीवित रहने के बारे में चेतना विकसित करता है। अस्तित्ववादी मनुष्य को मूल्यों का निर्माता मानते है। प्रो. सात्रे का कथन है- 'मैं केवल अपने को सम्मिलित करता हूँ। इस प्रकार का भाव अहं बोध का भाव है और इसके कारण वह अपने किये कार्यो की कमियों को जानकर सुधरने का प्रयास करता है।'

2. सत्य और ज्ञान-

अस्तित्ववादी सहज ज्ञान में विश्वास करते है। ज्ञान मानवीय होता है। व्यक्ति द्वारा अनुभव से प्राप्त ही ज्ञान सच्चा है यही सत्य है। सत्य व्यक्ति का आत्मपरक, यथार्थ, आत्मानुभूति की उच्चतम व्यवस्था है। यह अमूर्त की परिणति स्वरूप है।

3.स्वतंत्रता-

मनुष्य का अस्तित्व स्वीकार करने के लिए उसे 'चयन करने वाला अभिकरण' मानना आवश्यक है। उसकी स्वतंत्रता सम्पूर्ण है। मनुष्य को क्या बनना है। इसका चुनाव करने लिए वह पूर्ण स्वतंत्र है। चयन करने तथा निर्मित होने की प्रक्रिया मानव के स्वयं के अस्तित्व में है। व्यक्ति सूक्ष्म रुप में ईश्वर का प्रतिमान है, जो कि स्वतंत्रता के साथ कार्य कर सकता है।

4.वैयक्तिक मूल्यों को प्रश्रय-

अस्तित्ववाद में मूल्य सर्वथा वैयक्ति होते है। अतः सत एवं असत्य तथा शुभ एवं अशुभ केवल वैयक्तिक मूल्य है। जिनकी व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से कर सकता है। अस्तित्ववाद मनुष्य को भयंकर बोझ से लदा हुआ मानता है और अपनी असफलता के लिए मानव किसी पराशक्ति में आश्रय नहीं ढूँढ सकता।

5. मानव का स्वरूप –

अस्तित्ववादी मनुष्य को सभी गुणों से परिपूर्ण, अपने जीवन के निर्णय लेने में समर्थ एवं चेतनायुक्त मानते है। ब्लैकहोम लिखते हैं कि – 'मानव सत्ता की मानव सत्ता की परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि वह प्रदत्त वस्तु नहीं है, यह प्रश्न है मानव संभावना मात्र उससे स्वयं भू बनाने की शक्ति है। उसका अस्तित्व अनिर्णित होता है क्योंकि उसकी समाप्ति नहीं होती। मानव मात्र चेतन प्राणी ही नहीं अपितु अद्वितीय रूपेण यह आत्मचेतना से युक्त है वह विचार ही नही वरन् विचार के लिए भी सोचता है।'

8.5.1. अस्तित्ववाद दर्शन के सिद्धान्त-

अस्तित्ववाद दर्शन के अपने कुछ सिद्धान्त है, जिसके विषय में हमारा ज्ञान आवश्यक है और ये सिद्धान्त है-

1. व्यक्तिगत मूल्यों एवं प्रयासों को महत्व दिया जाना।
2. अस्तित्ववाद व्यक्तिगत मनुष्य की स्वतंत्रता एवं मुक्ति पर बल देता है। मुक्ति असीमित है।
3. अस्तित्ववाद सर्व श्रेष्ठता के अन्तर्युद्ध से उठकर नैतिक बनकर साथ रहने पर बल देता है।
4. अस्तित्ववाद मनोविश्लेषणात्मक विधियों को अपनाने में विश्वास करता है।

5. अस्तित्ववाद मानव के अस्तित्व में विश्वास करता है, इसका आभास हमें प्रो.ब्लैकहोम शब्दों में निम्नलिखित रुप में मिलता है-'अस्तित्ववाद सद्भाव या सत्तावाद का दर्शन है, प्रमाणित तथा स्वीकार करने और सत्ता का विचार करने और तर्क करने को न मानने का दर्शन है।'

8.5.2. अस्तित्ववाद एवं शिक्षा

अस्तित्ववादी दर्शन इतना क्रान्तिकारी तथा जटिल है कि शिक्षा की दृष्टि से इस पर कुछ कम विचार हुआ है। अस्तित्ववाद का प्रादुर्भाव एक जर्मन दार्शनिक हीगेल के 'अंगीकारात्मक या स्वीकारात्मक' आदर्शवाद का विरोध है। हम पूर्व में भी पढ़ चुके है कि यह अहंवादी दर्शन की एक खास धारा है। मानव को चेतना युक्त, स्वयं निर्णय लेने अपने जीवन दशाओं को तय करने के योग्य मानते है तो ऐसी दशा में शिक्षा की आवश्यकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। भारतीय दर्शन में इस दर्शन का प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ। परन्तु पाश्चात्य दर्शन ने इसका उल्लेख स्पष्ट रुप में मिलता है। अस्तित्ववाद के शैक्षिक विचार पर प्रथम पुस्तक 1958 में प्रकाशित हुई और इस ओर मुख्य योगदान प्रो. मारिस, प्रो. नेलर तथा प्रो. ब्रूबेकर आदि का है।

- **शिक्षा का अर्थ-**

अस्तित्ववादी शिक्षा को मनुष्य की एक क्रिया या प्रवृत्ति मानते है। शिक्षा मनुष्य के अपने व्यक्तिगत अनुभूति के रुप में पायी जाती है। अस्तित्ववादी शिक्षा को मनुष्य को अपने अस्तित्व की प्रदर्शित करने का माध्यम मानते है। अस्तित्ववादी के अनुसार शिक्षा व्यक्तिगत प्रयास है।

8.5.3. अस्तित्ववाद एवं शिक्षा के उद्देश्य –

प्रो. ओड के अनुसार अस्तित्ववादी शिक्षा के उद्देश्य अग्रांकित अवधारणा पर आधारित है –

- मनुष्य स्वतंत्र है, उसकी नियति प्रागनुभूत नहीं हैं। वह जो बनना चाहें, उसके लिए स्वतंत्र है।
- मनुष्य अपने कृत्यों का चयन करने वाला अभिकरण है उसे चयन की स्वतंत्रता है। इनके आधार पर उद्देश्य निर्धारित है –

1.स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास-

चयन करने वाला अभिकरण होने के नाते चयन प्रक्रिया में व्यक्ति को समग्र रुप से अन्तः ग्रसित हो जाना पड़ता है। अतः शिक्षा का यह उद्देश्य है कि वह बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करें।

2.व्यक्तिगत गुणों व मूल्यों का विकास –

अस्तित्ववादी मानते है कि मानव स्वयं अपने गुणों एवं मूल्यों को निर्धारित करता है। अतः शिक्षा को बालक में व्यक्तिगत गुणों और मूल्यों के विकास की योग्यता विकसित करनी चाहिए।

3.मानव में अहं व अभिलाषा का विकास करना-

इस सम्बन्ध में प्रो. मार्टिन हीडेगर का कथन है- 'सच्चा व्यक्तिगत अस्तित्व ऊपर से थोपे गये और अन्दर से इच्छित किये गये अभिलाषाओं का संकलन है।' अतः अस्तित्ववाद यह मानता है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की अहं भावना के साथ अभिलाषा का भी विकास करना चाहिए।

4.वास्तविक जीवन हेतु तैयारी –

मानव अस्तित्व जीवन में यातना एवं कष्ट सहकर ही रहेगी। अतः अस्तित्ववादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को इस योग्य बनाना है कि वह भावी जीवन में आने वाले संघर्षों, कष्टों और

यातनाओं को सहन कर सके जो उत्तरदायित्व पूर्ण जीवन में आ सकते है। अस्तित्ववादी मृत्यु की शिक्षा देने के पक्ष में है।

5. व्यक्तिगत ज्ञान या अन्तर ज्ञान का विकास करना –

इस सम्बन्ध में प्रो. बिआउबर का कहना है –'मानव एक पत्थर या पौधा नहीं है' और अस्तित्ववाद इसके अनुसार दो-बातें मानते हैं कि मनुष्य अपनी बुद्धि और सूझ बूझा से काम करते है अतः अस्तित्ववादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तिगत सहज ज्ञान या अन्तर्ज्ञान का विकास करना है और मानव को अपने क्रियाओं हेतु निर्णय लेने में सहायता देना है।

8.5.4. अस्तित्ववादी शिक्षा में शिक्षक एवं शिक्षार्थी

अस्तित्ववाद के अनुसार हमें छात्र के अस्तित्व को महत्व देना चाहिये। अस्तित्ववादी विद्यार्थी के कुछ कर्तव्य निर्धारित करते है। विद्यार्थी स्वयं में महत्वपूर्ण और सन्निहित होते है। अस्तित्ववाद के अनुसार, विद्यार्थी एक मुक्त या निश्चित परिश्रमों एवं विचारशील प्राणी होता है। विद्यार्थियों की शिक्षा अलग-अलग प्रकार से उनकी योग्यता एवं व्यक्तित्व के अनुसार होनी चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को अपने व्यक्तित्व के विकास एवं पूरा ध्यान देना चाहिये। अस्तित्ववादी बालक के व्यक्तित्व में इन गुणों की परिकल्पना करते है

- आत्मबोध, आत्म निर्णय या आत्म नियंत्रण की शक्ति।
- आत्म शुद्धि व आत्म केन्द्रित के गुण।
- विचारों एवं इच्छाओं को प्रकट करने की क्षमता।
- सौन्दर्य बोध की क्षमता।
- जीवन पर्यन्त ज्ञान की इच्छा का विकसित करते रहने की क्षमता।
- अध्यापक के साथ सम्बन्ध स्थापन की क्षमता।
- भावात्मक पक्ष की सुदृढ़ता।

जैसा कि छात्र संकल्पना में स्पष्ट किया गया है कि अस्तित्ववाद स्वतंत्रता में विश्वास करता है। अस्तित्ववादी अध्यापकों को स्वतंत्र विचार करने वाला स्वेच्छा से काम करने वाला, स्वतंत्र मूल्यों को स्थापित करने वाला, आशावादी, व्यावहारिक एवं निर्भीक होना चाहिए। अस्तित्ववादी मानते है कि अध्यापकों में, विद्यार्थी को उसके अनुकूल तैयार करने की अभिक्षमता होनी चाहिए। शिक्षक को जीवन के वास्तविक अनुभव प्राप्त करके उसके अनुकूल विद्यार्थियों को तैयार करने हेतु तैयार रहना चाहिए। अस्तित्ववादी यह मानते हैं कि विद्यार्थियों को आत्मानुभूति के लिए तैयार करना चाहिए और विद्यार्थियों को निजता की अनुभूति करते हुए जीवन के सत्य का बोध करवाना चाहिए। अस्तित्ववादी अनुभूति के माध्यम से विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास करें और इस प्रकार से अस्तित्ववादियों के अनुसार शिक्षक के दायित्व बहुत अधिक है और उसमें विशेष गुण की आवश्यकता होगी उससे अपेक्षा की जाती है कि -

• वह विषय सामग्री के प्रस्तुतीकरण में विद्यार्थियों को उसके सत्य के खोज के लिए स्वतंत्रता प्रदान करें। विद्यार्थियों में मस्तिष्क का स्वयं संचालक एवं नियंत्रण की क्षमता विकसित करें।

• विद्यार्थियों को चरित्र गठन कर स्वयं सिद्ध सत्य मानने की क्षमता उत्पन्न करें।

• विद्यार्थियों को चयन करने की स्वतंत्रता प्रदान करें।

• विद्यार्थियों को स्वयं की अनुभूति करने का अवसर प्रदान करें।

8.6. सारांश

मार्क्सवाद प्रत्येक वस्तु को एक गतिमान प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करता है। सच है कि जीवन की प्रत्येक पहलू सदा दो बिन्दुओं से टकराता है या तो वे सकारात्मक होता या नकारात्मक, अच्छा या बुरा, सत्य या असत्य। खासकर मार्क्सवादी विचारधारा की प्रासंगिकता का अन्दाजा इसी से लगता जा सकता है कि आज भी मार्क्सवादी- विचारधारा अपनी तमाम कमियों के बावजूद, चर्चा का विषय बनी हुई है। दुनिया के अधिकतर बुद्धिजीवियों का झुकाव सहज ही मार्क्सवाद की तरफ हो जाता है या तो वे मार्क्सवाद के समर्थन में है या मार्क्सवाद के विरोध में सक्रिय हैं। मार्क्सवादी विचारकों का मानना है कि व्यक्तिवाद, पूंजीवाद की आत्मा है। इसी का एक रूप अहंवाद है, जहाँ व्यक्ति खुद को ही सर्व-सत्ता सम्पन्न समझते हुए सम्पूर्ण समाज के विरोध में खड़ा हो जाता है। मानना चाहिए कि मार्क्सवादी इतिहास दृष्टि समाज और साहित्य के सम्बन्धों पर जोर देने के साथ ही इतिहास और साहित्य के सम्बन्ध को भी समझने का प्रयास करती है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में यथार्थवादी विचारधारा भी मिलती है। वेदों में प्रकृति के तत्वों का वर्णन मिलता है, जिन्हें देवरूप स्वीकार किया गया और तत्सम्बन्धी उपासना हुई। मानव शरीर को धर्म का साधन माना। साधन को यथार्थ व अस्तित्ववाद माना गया। यथार्थवादी के तत्वमीमांसा के तत्व भारतीय दर्शन में मिलता है जिसमें संसार के पदार्थ भौतिक तथा मानसिक पदार्थ माना। इन चार्वाकवादियों में इन्द्रियसुख को महत्व दिया। संख्या दर्शन में भी यथार्थवादी तत्व पाये जाते हैं क्योंकि प्रकृति एवं पुरुष दो तत्व माने गये हैं। प्रकृति को सत्य, और समस्त से युक्त माना गया और प्रकृति के परिवर्तन पुरुष के लिए उपभोग का आधार प्रदान करती है।

20 वीं शताब्दी के आरम्भ में जेम्स, जॉन डीवी तथा किलपैट्रिक में शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यथार्थवाद ने शिक्षा को वास्तविकता, उपयोगिता से जोड़ा। अस्तित्ववादी दर्शन इतना जटिल एवं गहन हैं कि इससे निकलने वाले शैक्षिक अभिप्रेतार्थ कम है। अस्तित्ववाद अति- व्यक्तिवादी तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक होने के कारण न तो सांस्कृतिक परम्परा न समूह के मूल्यों को स्वीकार करता है और व्यक्तिगत छात्र पर केंद्रित रहता है। मनुष्य की स्वतंत्रता का उद्घोष अस्तित्ववाद की सबसे बड़ी देन है।

8.7. स्वयं अध्ययन के लिए प्रश्न

1. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन- आधार और अधिरचना को सोदाहरण रूप से लिखिए।
2. यथार्थवादी शिक्षा की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
3. अस्तित्ववाद की संकल्पना एवं सिद्धांत के सुविस्तार रूप से लिखिए।
4. अस्तित्ववाद शिक्षा में शिक्षा एवं शिक्षार्थी के विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

सहायक ग्रंथ

1. कार्ल मार्क्स- हिज लाईफ एण्ड ऐनवाइरमैंट- बर्लिन, इज़ाइया, न्यू यॉर्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996.
2. दी एण्ड ऑफ हिस्ट्री एणड द लास्ट मैन-फुकुयामा, फ्रांसिसि, न्यू यार्क, फ्री प्रेस, 1992.
3. शिक्षा दर्शन- एस. चतुर्वेदी, लखनऊ, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1970.
4. शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि- ओड. एल. के., राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर-2005.

डॉ. सूर्य कुमारी. पी.

9. साहित्य रूपों का अध्ययन - काव्य

9.0. उद्देश्य: प्राचीन काल से साहित्य के अनेक रूपों का विकास हुआ हैं। इस काव्य रूपों के वर्गीकरण अनेक आधारों पर करते हैं। कथानक के आधार पर काव्य के रूप महाकाव्य, खण्ड काव्य, गीत काव्य, मुक्तक काव्य आदि है। इस इकाई में काव्य के इन रूपों का अध्ययन सोदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

<u>इकाई-</u>

9.0. उद्देश्य

9.1. प्रस्तावना

9.2 साहित्य के भेद

9.3. काव्य या कविता

9.4. प्रबन्ध काव्य

9.4.1. महा काव्य

9.4.2. खण्डकाव्य

9.5. मुक्तक काव्य

9.6. गीत काव्य

9.7. सारांश

9.8. बोध प्रश्न

9.1. प्रस्तावना : इस चराचर सृष्टि में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसे वाणी का वरदान प्राप्त हुआ है। इस वाणी के माध्यम से वह न केवल अपने विचारों, भावों और अनुभवों को दूसरों तक सम्प्रेषित करता है, प्रत्युत

उन्हें लिपिबद्ध भी कर सकता है। मानव सभ्यता के विकास में वाणी या भाषा तथा लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है।

वाङ्मय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा है 'ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।' साहित्य की यह बड़ी ही व्यापक परिभाषा है। ज्ञान के संचित कोष को संस्कृत में वाङ्मय कहा गया है। वस्तुतः वाङ्मय ही वे सोपान है जिन पर चढ़कर मानव जाति सभ्यता की यात्रा करती है।

साहित्य : वाङ्मय का ललित रूप साहित्य है जिसे संस्कृत में काव्य कहा गया है। विज्ञान व शास्त्रों में जहाँ ज्ञान (बुद्धि पक्ष) की प्रधानता होती है, वही साहित्य में भाव की प्रधानता होती हैं, साहित्य में भावना, विचार तथा कल्पना तत्व महत्वपूर्ण होते हैं। इसमें भाषा, शैली तथा अभिव्यंजना प्रणाली स्थान भी महत्व का होता है। साहित्य में समाज का हित अन्तर्निहित होता है। हित सहितौ अहित्यम्। सृष्टि ईश्वर की रचना है तो साहित्य मनुष्य निर्मित सृष्टि है।

9.2. साहित्य के भेदः साहित्य के प्रधानतः दो भेद है- पद्य, गद्य। पद्य-छंद या लयबद्ध रचना को पद्य कहलाती है जिसमें काव्य या कविता के समस्त रूपों का समावेश हो जाता है यथा महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि।

गद्य - गद्य में छन्द अथवा लय के बदले व्याकरण के नियमों अधिक ध्यान रखा जाता है। आज का युग गद्य का युग है। अत: गद्य के अनेक प्रकारों का लगातार विकास हो रहा है। यथा - उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक, एकांकी आदि।

9.3. काव्य या कविता: कविता को अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। महाकवि प्रसाद ने काव्य की परिभाषित करते हुए लिखा है- "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है- जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं। यह एक श्रेयमयी प्रेम रचना है।"

आचार्य शुक्ल के अनुसार "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था 'ज्ञान- दशा' कहलाती है उसी प्रकार हृदय मुक्तावस्था 'रस- दशा' कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे हम कविता कहते हैं "।

कवि अपनी काव्य प्रतिभा के माध्यम से अपनी मानसिक अनुभूति को शब्दों में अभिव्यक्त करता है । शब्द और अर्थ अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं । कवि शब्दों के माध्यम से ही अमूर्त भावों और विचारों को मूर्तमय बनाता है । इसके लिए वह छन्दों, अलंकारों, बिम्बों, प्रतीकों तथा लय का सहारा लेता है। कवि शब्दों के माध्यम से गति, संगति और चित्रात्मकता उत्पन्न करता है जिसके कारण उसके भाव सम्प्रेषणीय बनते हैं। तभी कविता सौन्दर्य का सर्जन करती है, रसानुभूति उत्पन्न करती है, तथा आनन्द प्रदान करती है।

पद्य काव्य के भेद: पद्य काव्य या कविता के निम्न भेद माने गये हैं -

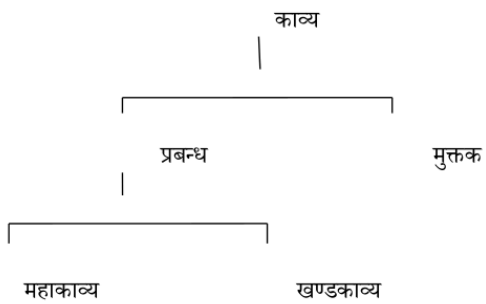

9.4. प्रबन्ध काव्य : यह काव्य का वह रूप है जिसमें श्रृंखलाबद्ध कथानक के निर्वाह हेतु छन्दों का एक सुनिश्चित क्रम बना रहता है । इसमें छंदों का पूर्वापर सम्बन्ध सुनिश्चित बना होता है जिसमें व्यक्तिक्रम उपस्थित होते ही अर्थ बाधित होता है। इसमें सामान्यतः एक कथा सूत्र होता है।

प्रबन्ध काव्य के पुनः दो भेद है महाकाव्य और खण्डकाव्य |

9.4.1 महाकाव्य: महाकाव्य शब्द 'मस्त' और 'काव्य' दो शब्दों से मिलकर बना है । इसमें पहला शब्द विशेषण और दूसरा विशेष है और दोनों शब्दों का अर्थ होता है बड़ा काव्य क्योंकि महत् से 'विशाल' 'उत्कृष्ट' का भी भाव प्रकट होता है । महाकाव्य जीवन के महत् का विवेचन करता है । महाकाव्य एक ऐसी बृहदाकार रचना होती है जिसमें किसी युग, जाति या यह महत्वपूर्ण व्यक्ति की कथा कही जाती है । रचना

सर्गबद्ध होती है तथा जीवन व जगत् के व्यापक फलक को अपने अन्तर्गत समेट कर चलती है। कथा की गरिमा के साथ-साथ इसमें भाषा शैली के उदात्त स्वरूप का भी समावेश होता है। महाकाव्य किसी भी राष्ट्र, जाति या धर्म के लिए गौरवपूर्ण रचना होती है। इसका जन्म तभी होता है जब जाति अपने वैचारिक उत्कर्ष पर पहुंचती है। किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के ऐतिहासिक महत्व के कार्य, किसी जाति के उत्थान- पतन आदि का वर्णन महाकाव्य में होता। इसका प्रभाव अक्षुण्ण व वैयक्तिक होता है। महाकाव्य युग-युगों तक प्रभाव डालने वाली क्लासिक कृति होती है, जिसमें कथा वस्तु व शैली - दोनों दृष्टियों से उदात्तता का दर्शन होते हैं। विद्वानों ने काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी हैं, जिनका निष्कर्ष इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है – 1) नैसर्गिक भावोद्रेक के साथ भावों की मार्मिक व्यंजना, 2) रस युक्त प्रवाह युक्त पद्य, 3) चमत्कार और ध्वनियुक्त पद्य रचना, 4) अलंकार, काव्य-गुण, उक्ति वैचित्र्य, औचित्य के अधिकाधिक निर्वाह से युक्त, 5) आंतरिक और बाह्य स्थितियों का बिम्बात्मक वर्णन, 6) शब्द और अर्थ का रमणीय सम्बन्ध, (7) कलात्मकता से युक्त आदि। संस्कृत के रामायण, महाभारत, ग्रीक के इलियड, ओडिसी, हिन्दी के साकेत, कामायनी आदि प्रसिद्ध महाकाव्य है।

- **संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुसार महाकाव्य का स्वरूप** :

महाकाव्य के स्वरूप पर भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही आचार्यों ने विचार किया है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणों पर व्यापक विचार किया है। आचार्य दण्डी, भामह, रुद्रट, कुन्तक आदि सभी ने महाकाव्य के स्वरूप और लक्षणों का इस प्रकार निदर्शन किया है-

1. महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग में भिन्न छंद का प्रयोग होना चाहिए। सर्गों की संख्या आठ से अधिक नहीं होनी चाहिए।

2. महाकाव्य का आरंभ मंगलाचरण से होना चाहिए। ईश्वर की स्तुति आदि अनिवार्य है।

3. महाकाव्य की कथावस्तु लोक प्रख्यात, इतिहास प्रसिद्ध, पौराणिक महदाकार व क्रमबद्ध होनी चाहिए।

4. महाकाव्य का नायक धीरोदत्त, गंभीर तथा उच्च मानवीय या दैवीय गुणों से युक्त होना चाहिए।

5. इसमें नगर, पर्वत, चन्द्र-सूर्योदय, उपवन, संभोग-वियोग, उत्सव आदि का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। अर्थात जीवन के सभी पक्षों का समावेश इसमें होना चाहिए।

6. महाकाव्य में श्रृंगार, वीर अथवा करुण रस (शांत) का समावेश होना चाहिए।

7. महाकाव्य का उद्देश्य फल - चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) की प्राप्ति होना चाहिए।

8) महाकाव्य की भाषा गरिमा युक्त, उदात्त तथा शैली गंभीरता युक्त होनी चाहिए।

9) महाकाव्य में संघर्ष, साधना व चरित्र के विकास को दिखाया जाना चाहिए।

अंततः महाकाव्य के तत्वों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है 1) कथा वस्तु और उसका संगठन 2) नायक 3) रस 4) भाषा-शैली 5) वर्णन 6) नामकरण 7) उद्देश्य।

आधुनिक काल के विचारक: हिन्दी के कुछ विद्वानों ने भी महाकाव्य के लक्षणों पर विचार किया है- गुलाबराय जी के अनुसार - महाकाव्य विषय प्रधान काव्य है, जिसमें अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - महाकाव्य को उच्चस्थान प्रदान किया साथ ही मुक्तककार की अपेक्षा प्रबंधकार कवि को श्रेष्ठ माना। उन्होंने महाकाव्य के चार तत्व मानें-इतिवृत्त, वस्तु व्यापारवर्णन, भाव व्यंजना और संवाद।

डॉ. नगेंद्र ने महाकाव्य के छः तत्व माने - 1 इतिवृत्त 2. वस्तु व्यापार वर्णन 3. भाव व्यंजना 4. संवाद 5. भाषाशैली 6. उद्देश्य।

सुमित्रानंदन पंत के अनुसार- 'महाकाव्य मानव सभ्यता के संघर्ष तथा सांस्कृतिक विकास में जीवन्त पर्वताकार दर्पण है, जिसमें मुख देखकर मानवता अपने को पहचानने में समर्थ होती है।"

पाश्चात्य चिन्तक :

अरस्तू के अनुसार - महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण है जो स्वतः गंभीर, पूर्ण एवं वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचाया गया हो, जिसमें आद्यांत एक छन्द हो, जिस में एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अंत स्वतः स्पष्ट हों, जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि में समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हो, कथा संभावनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।"

डाबर काम्बी के अनुसार "बड़े आकार के कारण ही कोई रचना महाकाव्य नहीं हो जाती। जब उसकी शैली महाकाव्यात्मक होगी, तभी उसे महाकाव्य माना जा सकता है और वह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उसकी अभिव्यक्ति से जुड़ी होती हैं। "

सी. एम. बावरा सर्वसम्मति से महाकाव्य वह कथात्मक काव्य रूप है, जिसका आकार वृद्ध होता है, जिसमें महत्वपूर्ण और गरिमा युक्त घटनाओं का वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रों की क्रियाशील जीवन कथा होती है। उसे पढ़ने के बाद हमें विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है।

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा : पाश्चात्य साहित्य में भी महाकाव्य लेखन की परम्परा बड़ी प्राचीन है। इस काव्य को अंग्रेजी में एपिक कहा जाता है। महान दार्शनिक, विद्वान व काव्यशास्त्र के प्रणेता अरस्तू ने ट्रेजडी (दुखांत नाटक) और एपिक (महाकाव्य) के रचना विधान पर विस्तृत विचार किया। उन्होंने इसके कुछ लक्षण इस प्रकार बताये है :

1. महाकाव्य विशालकाय प्रकथनात्मक (नेरेटिव) रचना होती हैं जो राष्ट्र की ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा प्रसिद्ध गाधाओं पर आधृत होनी चाहिए। कथा में क्रमबद्धता - अर्थात् प्रारम्भ, मध्य और अन्त और संगठन होना चाहिए।

2. नाटक के समान इसमें कार्य- व्यापार नहीं होता, पर कथा- संगठन नाटक के समान ही होता है। एपिक या तो चरित्र प्रधान होता है, या संघर्ष प्रधाना।

3. महाकाव्य में प्रधानतया औजपूर्ण छन्द (हिरोङ्क मीटर) का प्रयोग होता है।

4. विचित्र व अलौकिक घटनाओं का चित्रण होता है जिन्हें नाटक में नहीं दिखाया जा सकता। अतिमानवीय तत्व कथा में कौतूहल को सृष्टि करते हैं।

5. महाकाव्य की कथा में तारतम्यता व एकसूत्रता होनी चाहिए। कथानक सरल या जटिल हो सकता है। 6. महाकाव्य का उद्देश्य है - नैतिक सत्यों की स्थापना तथा भावोदेक (जिसकी परिणति आनंद में हो।

7. महाकाव्य के प्रमुख पात्र विजयी व उच्च गुण सम्पन्न होने चाहिए।

दोनों मतों का समन्वय:

यदि संस्कृत, हिन्दी और पश्चिमी विद्वानों के लक्षणों: पर विचार किया जाय तो यह स्वतः सिद्ध हो सकेगा कि उनमें कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। महत् उद्देश्य, महती प्रेरणा, महती प्रतिभा, प्रभावशाली सुगठित कथानक, उत्तम नायक, जातीय विशेषताओं का समावेश, गंभीर रस - व्यंजना, महिमा मंडित भाषा - शैली, विस्तृत वस्तु - वर्णन, युगधर्म की व्यंजना।

भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्य के अन्तर:

पाश्चात्य महाकाव्य यथार्थ की तुलना पर तोले जाते हैं। अत: उनका नायक बड़े एवं असाधारण कार्यों के लिए प्रयत्नशील तो रहता है, किन्तु समय आने पर लघु कार्य करने में भी नहीं हिचकता अर्थात् वह भारतीय नायक के अनुसार अपना आदर्श नहीं बनाये रख सकता। प्राचीन दृष्टि जहाँ नायक को आदर्श एवं दैवी गुण सम्पन्न बनाने की ओर रही, वही आधुनिक दृष्टि मानव की सच्ची आलोचना, मानवीय भावों का रहस्योद्घाटन तथा जीवन की विविधता को महत्व देती है, क्योंकि मनुष्य आदर्श का पुंज मात्र नहीं होता। उसमें गुण-दोष दोनों का होना आवश्यक है। अत: उसकी मानवीय दुर्बलताओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए चरित्र का क्रमश: विकास दिखाया जाता है। इस कारण आधुनिक दृष्टि नायक के यथार्थवादी चरित्र की पराधर है। आधुनिक दृष्टि के अनुसार- नायक को मानवता का कल्याण करने में संलग्न दिखाया जाता है। इनमें मानवीय सत्ता और यथार्थ पर बल रहता है। यह सांसारिक समस्याओं के सुलझाने की क्षमता रखता है। अतः उसका मानसिक विकास तथा घात- प्रतिघात दिखाना आवश्यक है।

भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही मतों से महाकाव्य एक विशालकाय, भव्य, उदात्त, प्रकथनात्मक प्रधात्मक कृति है जिसके सामान्यतः निम्न तत्व होते हैं।

1. महान कथानक 2. उदात्त शैली 3. महान चरित्र 4. महान संदेश

आचार्य शुक्ल जी ने महाकाव्य को उच्चस्थान प्रदान किया स्वाथ ही मुक्तककार की अपेक्षा प्रबंधकार कवि को श्रेष्ठ माना। उन्होंने महाकाव्य के चार तत्व माने इतिवृत्त, वस्तु व्यापारवर्णन, भाव व्यंजना और संवादा अन्ततः महाकाव्य की सर्जना के लिए विराट प्रतिभा की आवश्यकता होती है।

9.4.2 खण्ड काव्य:

खण्ड का अर्थ है टुकड़ा। महाकाव्य में जहाँ जीवन के विविध अंगों और घटनाओं का विशद, व्यापक और सजीव चित्रण होता है, वही खण्ड-काव्य में जीवन की किसी एक घटना, एक विचार या एक भाव का उद्घाटन या चित्रण होता है, इसमें कथा वस्तु सम्पूर्ण न होकर, उसका एक अंश या 'खण्ड' ही होती है। इसमें विस्तार के बदले संक्षिप्तता होती है - फिर भी इसमें 'कथा संगठन' आवश्यक होता है। इसमें व्यापक चरित्र चित्रण का अवकाश नहीं होता। महाकाव्य में जहाँ चतुर्वर्ग का वर्णन और सभी रसों का प्रमुखता होती है, इसके विपरीत खण्ड काव्य में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से किसी एक का और रसों में से किसी एक का समावेश होता है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार " महाकाव्य के ही ढंग के पर जिस काव्य की रचना होती है, पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्ड काव्य कहते हैं। यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है, जिससे वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः पूर्ण होता है।

डॉ. शकुंतला दुबे - "खण्ड काव्य की प्रेरणा के मूल में अनुभूति का स्वरूप एक सम्पूर्ण जीवन खण्ड की प्रभावात्मकता से बनता है।

खण्ड-काव्य की विशेषताएँ :

1. खण्ड काव्य में कथा की एकात्मक अन्विति अनिवार्य है। इसके लिए एक ओर तो खण्ड काव्य की कथा में एकदेशीयता का अर्थात् नितांत प्रासंगिक उपकथाओं का होना ओर दूसरी और उसमें आरम्भ, विकास और चरमावस्था की व्यवस्था आवश्यक है।

2. खण्ड काव्य में जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण किया जाता है।

3. रूप और आकार में खण्ड-काव्य महाकाव्य से छोटा होता है और इसमें महाकाव्य के लक्षण संकुचित रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

4. खण्ड काव्य का कोई एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिए और उसकी परिणति तीव्रगामी होनी चाहिए। इसमें प्रभावान्वित, वर्णन प्रवाह आदि होते हैं।

5. खंड काव्य का उद्देश्य चाहे कोई चरित्र, पटना-प्रसंग, परिस्थिति विशेष था कोई सामयिक दर्शन हो, कवि के व्यक्तित्व का उसके साथ अधिकाधिक तादालय स्थापित हो जाना भी स्वाभाविक है।

खण्ड-काव्य के तत्व-

1. कथानकः- महाकाव्य के समान खण्ड काव्य भी सर्गबद्ध हो सकता है। कथा-वस्तु के रूप में कोई घटना रहती है, जिसमें उतार-चढ़ाव नहीं होता। खण्ड-काव्य के कथानक में भी प्रसंगों का चयन, व्यवस्थित योजना, औत्सुक्य, स्वाभाविकता आदि गुण रहते हैं।

2. नायक अथवा पात्रः- खण्ड - काव्य का नायक धीरललित या धीर प्रशान्त होना चाहिए। इसमें प्रतिनायक अथवा खलनायक का समावेश हो सकता है। पात्र सीमित संख्या में होता हैं और उनका चारित्रिक विकास पूर्ण नहीं होता। केवल विकसित चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। महाकाव्य के समान खण्ड काव्य के पात्रों में सजीवता, स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता एवं रोचकता होती है।

3. संवादः- खण्ड काव्य के संवाद संक्षिप्त, चुस्त, स्वाभाविक, पात्रानुकूल, प्रसंगानुकूल एवं परिस्थिति के अनुकूल होते हैं। इसमें नाटकीयता का समावेश आवश्यक है।

4. देशकाल अथवा वातावरण:- परिवेश सीमित होने के कारण खण्ड काव्य में देशकाल अथवा वातावरण का समावेश विस्तार से नहीं हो पाता। पात्रों के हाव-भाव, कथा प्रसंग एवं संवादों के माध्यम से इस तत्व का निर्वाह किया जाता है।

5. रसाभिव्यंजना:- खण्ड-काव्य में महाकाव्य के समान सभी रसों के वर्णन का अवसर नहीं होता। खण्ड-काव्य में प्राय: एक ही रस होता है। कवि इसमें भावों की उदात्तता, विविधता एवं गहनता की ओर ध्यान देता है। प्रसंगवश खण्ड-काव्य में एक से अधिक रसों का भी समावेश हो सकता है।

6. भाषा शैली:- महाकाव्य एवं खण्ड-काव्य की भाषा शैली में मूलतः कोई अन्तर नहीं होता। खण्ड काव्य की भाषा में सजीवता, सरलता, प्रवाह, स्वाभाविकता एवं बोधगम्यता होनी चाहिए। खण्ड काव्य की रचना एक या अनेक छन्दों में हो सकती है एवं उसमें अलंकारों का भी समावेश होता है।

7 उद्देश्य:- खण्ड काव्य का भी उद्देश्य लोकचित्त की रंजकता के साथ-साथ किसी आदर्श की स्थापना होता है।

श्यामनारायण पाण्डेय का जय हनुमान, हल्दी घाटी, प्रसाद का आँसू, दिनकर का 'कुरुक्षेत्र', गंगावतरण, नागार्जुन के भस्मांकुर, नरेश मेहता के 'संशय की एक रात' भवानी प्रसाद मिश्र के कालजयी आदि प्रमुख खण्डकाव्य है ।

9.5. मुक्तक काव्य :- वह छोटी काव्य रचना है जो पूर्वापर सम्बन्ध निरपेक्ष पूर्ण अर्थ व चमत्कार उत्पन्न करने वाली हो । प्रबन्ध काव्य में कथा होने से पूर्वापर का सम्बन्ध रहता है, परन्तु मुक्तक में पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह आवश्यक नहीं रहता, क्योंकि इसका प्रत्येक छंद स्वतंत्र रहता है और प्रबन्ध काव्य की भाँति इसमें कोई कथा नहीं होती। कुछ मुक्तक अवश्य ऐसे होते हैं जिनका प्रत्येक छंद स्वतंत्र अथवा अपने आप में पूर्ण भी होता हैं और उनमें एक कथा सूत्र भी अनुस्यूत होता है। सूर का 'भ्रमरगीत', 'तुलसी की विनय पत्रिका' एवं 'गीतावली' आदि गीत काव्य के कुछ उदाहरण हैं।

मुक्तक का स्वरूप :- आधुनिक समीक्षकों के अनुसार काव्य के दो भेद होते हैं । व्यक्तित्व प्रधान, भाव प्रधान तथा विषय प्रधान होते हैं । मुक्तक भाव प्रधान काव्य की श्रेणी में आती है । भाव-प्रधान कविता में

कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की प्रधानता रहती है, भाव प्रधानता के कारण इसमें गीतात्मकता का विशेष स्थान रहता है।

मुक्तक शब्द के अर्थ को भी कोश कारों ने कई प्रकार से किये हैं। यथा "जो काव्य अर्थ - पर्यवसान के लिए किसी का मुखापेक्षी न हो, वह मुक्तक कहलाता है।

मुक्तक का शाब्दिक अर्थ है- मुक्त रहने वाला, स्वतंत्र रहने वाला या मोक्ष प्राप्त कर लेने वाला। इस दृष्टि से मुक्तक वह काव्य रचना हैं जो पूर्वापर - सम्बन्ध की अपेक्षा न रखती हो, जो रचना अपने में स्वतंत्र हो तथा पूर्ण अर्थ देने में समर्थ हो। मुक्तक वह काव्य रचना है, जो पूर्वापर प्रसंग की अपेक्षा न रखती हो।

मुक्तक की परिभाषा: अग्निपुराण के अनुसार 'सहृदयों को चमत्कृत करने में समर्थ श्लोक ही मुक्तक है।' आचार्य दण्डी के अनुसार मुक्तक वह श्लोक हैं जो वाक्यांतर निरपेक्ष हो।

अभिनव गुप्त के अनुसार - मुक्तक आगे पीछे के पदों से सम्बन्ध न रखकर भी, एक ऐसा निरपेस छन्द है जो स्वतः रसोद्रेक कराने में पूर्णतः समर्थ होता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और में हृदय एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है ।

मुक्तक की विशेषताएँ :-

1. एक रमणीय मार्मिक चुने हुए खण्ड दृश्य का सहसा आनयन।

2. चयन, संयम और मण्डन की प्रवृत्ति

3. कुछ क्षणों के लिए चमत्कृत कर देने वाला प्रभाव।

4. कल्पना की समाहार शक्ति

5. भाषा की समास शक्ति।

6. इसमें पूर्ण जीवन की नहीं, अपितु रमणीय, मार्मिक, चुने हुए खण्ड दृश्य की झाँकी ही मिलती है।

7. इसे कवि अपनी उत्कृष्ट कल्पना के आधार पर संक्षिप्त रूप से सशक्त भाषा में प्रस्तुत करता है।

8. इसमें पूर्वापर प्रसंग का निर्वाह नहीं होता और यह स्वयं रस प्रदान करने में पूर्ण समर्थ होता है।

9. मुक्तक किसी एक अनुभूति की कल्पना का चित्र होता है, जिसमें माधुर्य और संगीत भी होता है।

मुक्तक और प्रबंध में अंतर :- प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही पद्यात्मक काव्य के दो प्रकार हैं। रमणीयता, अभिव्यक्ति, सौष्ठव और चमत्कार योजना की दृष्टि से दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं होता। भेद होता है- पूर्वापर सम्बन्ध निर्वाह तथा निरूप्य वस्तु की दृष्टि से। प्रबन्ध काव्य में सर्वत्र सानुबन्ध कथा होती है। उस कथा में पूर्वापर सम्बन्ध - निर्वाह, प्रकथन - प्रवाह, कथा वस्तु का सुगठित विन्यास एवं साँग-रस परिपाक अवश्य पाया जाता है। मुक्तक काव्य में इन सब बातों का अभाव रहता है। इनके स्थान पर उसमें निरपेक्ष चित्रण, चमत्कार योजना, रसाभिव्यक्ति आदि तत्व विद्यमान रहता है। वर्ण विषय की दृष्टि से प्रबन्ध काव्य में सम्पूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जाती है, जबकि मुक्तक में उसके किसी रमणीय पक्ष के सौन्दर्योद्घाटन पर ही ध्यान केन्द्रित रहता है।

भारतीय वाङ्मय में प्राचीनतम मुक्तक रचना है ऋग्वेद। इसमें भिन्न-भिन्न मंत्रों में भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति की गई है।

प्राकृत व पाली भाषा का मुक्तक साहित्य काफी समृद्ध है। 'गाथा सप्तशती प्राकृत में लिखा प्रसिद्ध मुक्तक ग्रंथ है। कालान्तर में संस्कृत में अमरूक - शतक', शृंगार तिलक, नीति-शतक, वैराग्य - शतक, आर्य सपृश्यती आदि ग्रंथ लिखे गये है।

हिन्दी में कबीर, दादू, सुन्दरदास, तुलसी, मीरा, रहीम आदि ने मुक्तक काव्य लिखे। रीतिकाल में बिहारी, अतिराम, देव, पदमाकर आदि ने मुक्तक रचनाएँ की।

अन्ततः साहित्य में प्रबन्ध काव्य का जितना महत्व है, उतना ही मुक्तक रचनाओं का भी है। दोनों भी प्रकार की रचनाएँ महत्व हमें आनन्द देने तथा शिक्षा व रसानुभूति कराने में सक्षम होती हैं।

9.6. गति काव्य:- गीत काव्य मुक्तक का ही एक भेद है। गेय पद रचना को गीति कहा जाता है। इसमें कवि का व्यक्तित्व अभिव्यक्ति पाता है। प्रबन्ध काव्य जहाँ वस्तु परक होता है, वही प्रगीत व्यक्तिपरक होता है। इस में व्यक्ति के अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-विराग आदि का भावनात्मक चित्रण होता है। प्रगति में रचयिता के हृदय का स्पंदन होता है। आत्माभिव्यजना तथा रागात्मकता - प्रगति के अनिवार्य तत्व हैं। गीत प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति में अति प्राचीन काल से गाये जाते रहे हैं और आज भी गाये जाते हैं, किन्तु साहित्य में उन गीतों की गीति-काव्य की संज्ञा दी जाती है, जिनको साहित्य के अंतर्गत गिना जा सकता है। महादेवी के शब्दों में -" साधारणतः गीत काव्य व्यक्तिगत सीमा में तीव्र में सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गये हो सके।"

डा. नगेन्द्र ने भाव को गीति काव्य की आत्मा मानते हुए इसे तीव्र मनोवेगजन्य माना है।

इस प्रकार जिस कविता में भावात्मक वैयक्तिक अनुभूतियों और भावनाओं की प्रचुरता होती है, उसमें गीतात्मकता का आ जाना स्वाभाविक है। अत: उसे ही गीति-काव्य कहा जाता है। इसे प्रगीत पुकारा गया है।

आधुनिक गीत को अंग्रेजी के लिरिक (lyric) के साथ जोड़ा गया और लिरिक की उत्पत्ति 'लायर' नामक वाद्ययंत्र से मानी गयी, जिस पर गीत गाये जाते थे।

भारत में वैदिक काल से ही गीत प्रचलित हैं। इसका प्राचीनतम रूप संहिताओं में देखा जा सकता है। आदिकाल में चारण गीतों की परम्परा और वीर काव्य गये ही हैं। विद्यापति की पदावली पर तो गीत गोविन्द का प्रभाव मान्य है ही। भक्तिकाल में सूर के पद राग-रागिनियों से युक्त है। मीरा के पद तो आज तक गाये जाते हैं। इस तरह भारत के साहित्य में प्रारंभ से ही गीत काव्य के दर्शन होते हैं।

गीत काव्य का स्वरूप : गीतकाव्य के स्वरूप पर पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने पर्याप्त मात्रा में विचार किया है।

एनसैक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार सभी प्रकार की वह कविता जो किसी वाद्ययंत्र पर गायी जा सके, गीत कहलाती है। प्रो- गुमरे के अनुसार गीति काव्य घर अन्तवृत्ति निरूपिणी करिता है जो वैयक्तिक

अनुभूतियों से पोषित होती है, जिसका सबन्ध घटनाओं से नहीं, अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था से निर्मित होती है।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार 'गीति- काव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्तक शैली में रचित रचना है, जिसमें कवि निजी अनुभूतियों या किसी एक भावदशा का प्रकाशन गीत या लयपूर्ण कोमल पदावली में करता है।'

गीतकाव्य की विशेषताएँ - गीति काव्य के तत्वों पर भी अलग-अलग विद्वानों ने विचार किया है।

1. वैयक्तिकता 2. प्रबल - आवेग तथा रागात्मकता 3. सुसम्बद्धता व अन्विति 4) प्रवाह 5) संगीतात्मकता।

आवेग वैयक्तिक होते हैं और गीत आवेग - प्रधान होता है। अतः उसमें वैयक्तिक आवेगों की प्रधानता रहती है। गीत भावों की अभिव्यक्ति तो है, साथ ही वह रसानुभूत भावों की अभिव्यक्ति है। अन्तर में उठने वाले रस में सिक्त होकर जो बिम्ब कवि के मानस में अभरते हैं, वे ही बिम्ब गीत में उभर आते हैं। गेयता या संगीतात्मकता गीत का आवश्यक तत्व है, क्योंकि गीत गेय होता है। संगीतात्मक से तात्पर्य स्वर, लय, राग, तालबद्ध संगीतात्मकता से नहीं है, अपितु भावातिरेक के साथ शब्दों की ऐसी अवस्थिति से हैं जो स्वर-व्यंजन मैत्री के माध्यम से संगीत की मधुरता उत्पन्न कर सके। गीत भावावेग का प्रस्तुतीकरण है। आवेग सीमित और क्षणिक होते हैं। अतः गीत का संक्षिप्त होना भी परमावश्यक है। उसमें जो भी भाव, कथ्य, वर्ण रहे, वह संक्षिप्त ही होना चाहिए, तभी गीत अपना अमित प्रभाव भी छोड़ सकेगा।

प्रगति अपेक्षकृत छोटी रचना होती है। इसमें आद्यंत एक ही अनुभूति अनुस्यूत होती है। प्रगति में सहजता, सरलता मधुरता तथा अभिव्यंजना का कौशल भी होना चाहिए। संक्षिप्त मनोहारिता गीति के प्रधान गुण हैं। प्रगति सहज संवेध व सम्प्रेषणीय होना चाहिए। इसके लिए उसमें तीव्र भावाभिव्यंजना का होना जरूरी है।

9.7. सारांश : भारतीय साहित्य के परंपरागत इतिहास में काव्य का विशिष्ट स्थान है। काव्य के भेद अनेक प्रकार है। सब मिलाकर पद्य-गद्य में विभाजित कर सकते हैं। पद्य को ही काव्य या कविता के नाम से जानते हैं। काव्य के विविध रूपों में प्रबंध काव्य, मुक्तक और गीत काव्य प्रख्यात है। प्रबंध काव्य के पुन: दो प्रकार है

महाकाव्य, खण्ड काव्य। इनके स्वरूप, विशेषताएँ आदि के बारे में इस इकाई में सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को ध्यान से पढ़ने के बाद महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गीतकाव्य के बारे में समग्र जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

9.8. बोध प्रश्न :

1) भारतीय साहित्य के काव्य के भेदों पर संलिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए?

2) महाकाव्य के स्वरूप पर सविस्तार प्रकाश डालिए ?

3) खण्ड काव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए?

4) गीतकाव्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके प्रमुख तत्वों का उल्लेख कीजिए ?

5) मुक्तक काव्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए?

सहायक ग्रंथ-

1) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र- डॉ. त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव

डॉ. एम. मंजुला

10. साहित्य रूपों का अध्ययन – गद्य

10.0. उद्देश्य:

इस इकाई में साहित्य के गद्य रूपों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी निबंध, रेखाचित्र आदि आधुनिक साहित्य के रूपों के बारे में जान सकेंगे। उपन्यास - कहानी में अंतर, नाटक और एकांकी में अंतर के बारे में जान सकेंगे।

इकाई-X

10.0. उद्देश्य

10.1. प्रस्तावना

10.2. उपन्यास

10.2.1. उपन्यास की परिभाषा

10.2.2. उपन्यास के तत्व

10.2.3. उपन्यास के भेद

10. 3. गद्य काव्य के रूप कहानी

10.3.1. कहानी की परिभाषा

10.3.2. कहानी का स्वरूप

10.3.3. कहानी के तत्व

10.4. उपन्यास और कहानी में अंतर

10.5. दृश्य काव्य – नाटक

10.5.1. नाटक की उत्पत्ति

10.5.2. नाटक के तत्व

10. 6. एकांकी

10.7. निबंधों के प्रकार

10.8. रेखाचित्र

10.9. संस्मरण

10.10. सारांश

10.11. बोध प्रश्न

10.1. प्रस्तावना :

आज का युग गद्य का युग है । विज्ञान, राजनीति, अर्थ-शास्त्र वाणिज्य-व्यापार, पत्रकारिता, दूर-संचार आदि में विकास के कारण आज गद्य का महत्व बढ़ गया है । जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रत्यक्ष, स्पष्ट तथा सहज सम्प्रेषण का माध्यम गद्य ही है । पद्य काव्य की तरह गद्य काव्य भी साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है । साहित्यिक गद्य विज्ञान या व्यावहारिक क्षेत्र के गद्य से भिन्न होता है । साहित्यिक गद्य रचना में साहित्य के तत्व अर्थात सर्जनात्मकता, वैयक्तिक संस्पर्श, कल्पना, भावना व शैली की विशिष्टता समाहित होते हैं । इसमें अर्थ विभिन्न स्तरों तथा अभिव्यंजना कौशल का समावेश भी होता है । साहित्यिक गद्य रचना अपने आप में 'कृति' होती है । प्राचीन विद्वानों ने गद्य लेखन की लेखन की कसौटी माना है । आज के युग में गद्य - साहित्य का प्रचार-प्रसार और सृजन काफी बढ़ गया है । गद्य साहित्य में कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आत्मकथा, जीवनी, रिपोतार्ज, डायरी, रेखाचित्र आदि विधाएँ होते है ।

10.2. उपन्यास :

उपन्यास आधुनिक युग की सर्वाधिक सशक्त और लोकप्रिय विधा है । सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसका अपना एक विशिष्ट महत्व है । उपन्यास का कलेवर व्यापक व कैनवास विस्तृत होता है । उपन्यास में जीवन का चित्रण किया जाता है और उसकी लोकप्रियता का आधार भी उसकी जीवन से निकटता रहना ही है, जीवन के विभिन्न पक्षों संस्कृति, सभ्यता आदि को समेटता हुआ उपन्यास तत्कालीन परिवेश की झलक प्रस्तुत करता हुआ जहाँ एक ओर 'इतिहास' होता है, वहीं दूसरी ओर जीवन की आन्तरिक स्थितियों, मनोवेगों और मानवीय मनोविज्ञान का चित्र उभरने के कारण, सूक्ष्म स्थितियों की चित्रित करने के कारण, मानव जीवन की सर्वंगीण को समेटने के कारण, वह 'महाकाव्य' जैसा रस प्रदान करता है ।

10.2.1. उपन्यास की परिभाषा :

उपन्यास का शाब्दिक अर्थ है - उप+न्यास – अर्थात निकट या सामने रखना । उपन्यासकार पाठक के सामने अपने मन की कोई विशेष बात, कोई नवीन मत रखना चाहता है । यह उपन्यास का शाब्दिक अर्थ है । उपन्यास को अनेक लेखकों ने अनेक ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है । डॉ. श्याम सुन्दर दास ने इसे "मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा" कहा है ।

बाबू गुलाबराय के अनुसार- "उपन्यास कार्य - कारण श्रृंखला में बंधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक-काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रुप से उद्घाटन किया जाता है ।"

अंग्रेजी का नॉवेल शब्द इटालिन 'नावेला' से निकला है जिसका अर्थ एक नवीन वस्तु है। इसकी उत्पत्ति रोमांस से हुई है। अत: प्रारम्भिक उपन्यासों में रहस्य - रोमांच की प्रधानता रही। धीरे-धीरे उपन्यास में मानव-जीवन के यथार्थ के चित्रण को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने लगा।

आज की जीवन अधिक जटिल व संघर्षमय हो गया है। मनुष्य की पुरानी मान्यताओं और जीवन विधान में बदलाव आया है, जीवन मूल्य टूटे है, नए मूल्यों ने उन्हें स्थानापन्न किया है एसी स्थिति में उपन्यास ही एक मात्र ऐसी विधा है जो आज के मनुष्य की विसंगतियों संघर्षों और बदलती हुई परिस्थितियों को अपने कथात्मक कलेवर में समेटा। इसी कारण उपन्यासों में एक ओर जहाँ राजनीति और समाज के बाहरी संघर्षों का लेखा-जोखा होता है, वही दूसरी ओर व्यक्ति के अन्तर्गत की गहराइयों का उद्घाटन होता है।

10.2.2. उपन्यास के तत्व: उपन्यास के छ: तत्व माने जाते हैं -

1. कथावस्तु: उपन्यास का कथावस्तु अपनी सीमा में जीवन की समग्रता का अंकन करता है। पात्रों के क्रिया कलाप, घटनाएँ, इसी में आती हैं। कथावस्तु में मुख्य कथानक, कथासूत्र, प्रासंगिक कथाएँ, उपकथानक, पत्र, समाचार, प्रामाणिक, लेख, डायरी इत्यादि उपकरण होते हैं। कथावस्तु, श्रृंखलाबद्ध और सुसम्बद्ध होनी चाहिए। उसमें रोचकता, मौलिकता, कुतूहलता, संभाव्यता, व्यापकता, स्वाभाविकता, सत्यता के साथ निर्माण कौशल का होना आवश्यक है।

2. पात्र और चरित्र चित्रण : उपन्यास मानव जीवन का दर्पण है, मनुष्यों की यथार्थता से बना हुआ चरित्र का चित्रण इनमें होता है। अत: पात्रों का चरित्र चित्रण ऐसा होना चाहिए, जिससे उनके पीछे रहस्यों और अन्तर्जगत का उद्घाटन हो सके, वह देश कालानुसार भी अपेक्षित है। पात्रों में सजीवता, स्वाभाविकता और सहजता होनी चहिए, वे न तो अलौकिक प्रतीत हों, नही असाधारण।

3. कथोपकथन अथवा संवाद : पात्रों के संवाद कथावस्तु को अग्रसर करते हैं और पात्रों के चरित्र - चित्रण में सहायक होते हैं। संवाद, वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं। व्यंग्यादि के माध्यम से ये रोचकता एवं नाटकीयता में सहायक होते हैं। इसके लिए इनका विश्लेषणात्मक और अभिरचनात्मक होना आवश्यक है। साथ ही काथोपकथन सार्थक, संक्षिप्त, व्यंग्यपूर्ण एवं भावाभिव्यक्ति में समर्थ होना चाहिए। उनमें स्वाभाविकता , उपयुक्तता, नाटकीयता, यथार्थता, परिस्थिति अनुकूलता, पात्रानुकूलता, रोचकता, सरलता आदि गुणों का होना भी आवश्यक है।

4. देशकाल अथवा वातावरण - उपन्यासकार कथानक को तत्कालीन वातावरण के सन्दर्भ में पूर्ण यथार्थता एवं सजीवता के साथ प्रस्तुत करके पाठक को वर्णित घटनाओं की सत्यता का विश्वास दिलाता है। कुशल उपन्यासकार सभी परिस्थितियों को (सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, आदि) उभारता है।

5. भाषा शैली: भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है और अभिव्यक्ति का ढंग शैली है। उपन्यास की भाषा सरल, प्रांजल एवं बोधगम्य होनी चाहिए। उसमें पाण्डित्य की न्यूनता, प्रवाहपूर्णता और लोकोक्तियों एवं मुहावरों की छटा अपेक्षित है।

6. उद्देश्य : साहित्य की रचना सोद्देश्य होती है। प्रारम्भ में उपन्यास मनोरंजन के साधन मात्र थे, किन्तु अब उनके द्वारा मानव - चरित्र का चित्रण भी प्रधानता को प्राप्त कर गया है। सामान्य रूप से उपन्यास रचना के तीन उद्देश्य हैं - मनोरंजन, यथार्थ चित्रण और नैतिक प्रेरणा। श्रेष्ठ उपन्यासकार इन तीनों तत्वों को अपनी रचना में समन्वित करता है। उपन्यास में उद्देश्य ध्वनित होना चाहिए, कथित नहीं।

10.2.3. उपन्यास के भेद :

गत एक शताब्दी में उपन्यास साहित्य का बहुत विकास हुआ है। परिमाण व गुणवत्ता ही नहीं, विविधता की दृष्टि से भी इस विधा का महत्व बढ़ गाया है।

तत्वों के आधार पर विद्वानों ने इसके तीन भेद किये है –

1. घटना - प्रधान 2. चरित्र-प्रधान 3. नाटकीय

पर आजकल उपन्यास अपने बंधे बंधाये कलेवर से मुक्त हो गया है। ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, समस्या प्रधान, व्यंग्यात्मक, आंचलिक आदि अनेक प्रकार के उपन्यास लिखे जा रहे हैं। हिन्दी उपन्यास लेखन में नित नवीन प्रयोग दृष्टिगोचर हो रहे है।

10. 3. गद्य काव्य के रूप कहानी :

कहानी कहना और सुनना मानव की आदिम वृत्ति है। विश्व के सभी प्राचीन ग्रंथों में कथा कथन की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मण ग्रंथों, पुराणों तथा बौद्ध,व जैन साहित्य में हमें कहानियों का विपुल भण्डार मिलता है। इन कहानियों के माध्यम से प्राचीन मनुष्य में इतिहास, धर्म, राजनीति, दर्शन, नीति अदि विषयों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये है। कथा-कथन तथा कथा - श्रवण - मनोरंजन व ज्ञान प्राप्ति का सर्वाधिक सुलभ व सुगम मार्ग है। कथा-प्रेम की इसी मानवीय वृत्ति के कारण संस्कृत में पंचतंत्र, हितोपदेश, वैताल - पंचविशति , सिंहासन - स्वात्रिंशिका आदि का प्रणयन हुआ। तत्कालीन जन भाषाओं तथा पाली-प्राकृत - अपभ्रंश आदि में बृहत्कथा, बृस्तकथा मंजरी आदि की रचना हुई।

10.3.1. कहानी की परिभाषा:

कहानी की एक सुस्पष्ट सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। फिर भी कहानी के अनिवार्य तत्वों को देखते हुए कुछ परिभाषाओं को प्रस्तुत कर सकते हैं। कहानी वह कलात्मक छोटी गद्य रचना है जिसे एक ही बैठक में पढ़ा जा सके; जिसमें आरम्भ, मध्य, व अवसान हो - चरम बिन्दु हो तथा किसी एक संवेदना या विचार का प्रतिपादन हो, जीवन के किसी मार्मिक पक्ष का रहस्य का या अनुभव का कलात्मक उद्घाटन हो।

डॉ. सुरेश सिन्हा के अनुसार – "कहानी जीवन की एक संवेदना होती हैं, जिसका परिवेश सीमित होते भी भावानुभूति की गहनता अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।"

प्रेमचंद के अनुसार – "कहानी एक ऐसा उद्घाटन नहीं, जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेलें सजी हुई हैं, बल्कि वह एक, ऐसा बगीचा है, जिसमें एक ही गमले का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।

10.3.2. कहानी का स्वरुप: कहानी का आकार छोटा होना चाहिए। इसमें संवेदना की एकता यानी जीवन या जगत की कोई एक घटना, एक विचार, एक परिस्थिति वा एक भावना होती है। लघु कथा किसी सत्य खण्ड पर अवश्य ही आधारित रहनी चाहिए। इसके अभाव में उसमें प्राणवत्ता का अभाव रहता है। कहानी में एक विचित्र आकर्षण और एक मधुर रंजकता और रोचकता होती है। इसके अभाव में कहानी, कहानी न रहकर शुष्क विवरण मात्र रह जाती हैं।

10.3.3. कहानी के तत्व:

कहानीकार जब कहानी लिखता है तब वह विविध तत्वों का न तो कहानी में जानबूझ कर समावेश करता हैं, न उन पर विचार करता है। ये तत्वस्वभावत: उसकी कहानी में स्वत: आ जाते हैं।

काहानी के निम्न तत्व माने जा सकते हैं –

कथावस्तु : कथावस्तु ही कहनी का प्राण तत्व है। कथावस्तु संक्षिप्त होना चाहिए। इसमें घटनाओं का परस्पर सम्बन्ध होना अत्यन आवश्यक है और अनावश्यक घटनाओं की योजना अनुचित है। आवश्यक घटनाएँ इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध होनी चाहिए कि कुतूहल बनारहे। कथा का आरंभ रोचक होना चाहिए। प्रमुख पात्र की मानसिक स्थिति का विकास दिखाया जाना चाहिए। कहानी की चरम स्थिति वह स्थिति है, जहाँ कहानी की रोचकता में क्षण भर के लिए स्तब्धता आ जाती हैं। पाठक सोचने लगता है कि न मालूम अब क्या होगा ? कथावस्तु में अवरोह स्थिति वह स्थिति है – इसमें चरम स्थिति का समाधान मिलता है। कथानक सरल या जटिल हो सकता है पर उसमें कार्य की एकता होनी चाहिए। सम्पूर्ण कथानक में एकान्वित भी आवश्यक है। कथानक में प्रारंभ- मध्य व अवसान अनिवार्य होते है। अवसान में कहानी के चरमबिन्दु या क्लाइमेक्स का आना अनिवार्थ है।

कथानक वस्तुत: फूल की कली की तरह धीरे-धीरे खुलता जाना चाहिए। उसी में कहानी का सारा सौन्दर्य निहित होता है।

चरित्र चित्रण एवं पात्र: कहानी का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है। इसमें कहानी के पात्रों का सजीव वर्णन पूर्ण परिचय देना लेखक का काम है। पात्रों के गुण-दोष, स्वभाव, व्यवहार, आचार - विचार, वेश-भूषा, रूप-रंग, आकार आदि समस्त बातों को समन्वित कर लेखक हमारे मन की आँखों के सम्मुख एक सजीव चित्र उपस्थित कर देता है। चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत बाह्य अथवा शारीरिक विशेषताएँ, आंन्तरिक, मानसिक व बौद्धिक विशेषताएँ, चारित्रिक विशेषताएँ आदि बातें आते हैं। कहानीकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से चरित्र को उभारता है। ये चरित्र कभी तो स्थिर होते हैं। कभी गतिशील कभी फ्लेट होते है कभी तेजस्वी। लेखक अपनी वर्णन क्षमता के माध्यम से परिस्थितियों के बीच चरित्र को उभरता हैं।

कथोपकथन:

यह कथा के पात्रों के बीच का वार्तालाप है। कथोपकथन न केवल नाटकीयता की वृद्धि करते हैं, प्रत्युत पात्रों के अन्तर्बाह्य के उद्घाटन में भी सहायक होते है। इन्हीं के माध्यम से कथा में गतिशीलता उत्पन्न होती है। कथोपकथन द्वारा कहानी में जीवन्तता उत्पन्न होती है। कथोपकथन की भाषा पात्र, परिस्थिति,

वातावरण तथा सन्दर्भ के अनुकूल होनी चाहिए – वरना हास्यास्पदता उत्पन्न होकर कहानी की क्षमता कम हो जाती है।

वातावरण:

समसामयिक वातावरण के निर्माण के लिए वातावरण और देश-काल का चित्रण अपेक्षित है। यह दो प्रकार का होता है - भौतिक और मानसिक। भौतिक वातावरण तत्कालीन परिवेश को उभारता है और मानसिक वातावरण पात्रों की मानसिक स्थिति को उभारता है। ऐतिहासिक कहानियों में तो यह बहुत आवश्यक तत्व है। वस्तुत: वातावरणा वह पृष्ठभूमि है जिसके अधार पर सारी कहानी टिकी होती है। उसे कहानी का कैनवास कहा जा सकता है।

भाषा- शैली:

भाषा व शैली कहानी का अभिव्यंजना पक्ष है। यही वह तत्व है जो कहानी को कहानी बनाता है। इसके अभाव में कहानी 'समाचार पत्र की कतरन' या रिपोर्ट बन कर रह जाती है। कहानी कहानी होनी चाहिए, वक्तव्य या स्टेटमेंट नहीं। भाषा व शैली का चुनाव लेखकीय स्वतन्त्रता की वस्तु है। कहानी के कथानक, पात्र व वातावरण के अनुरुप वह भाषा का प्रयोग करता है। शैली लेखक की निजी स्वरूप व विशिष्टता प्रदान करता है। भाषा - शैली कहानी का कलापक्ष है। कलापक्ष का निखार कलाकार की क्षमता, साधना व विवेक पर निर्भर करता है। कलाकार जितना मंजा हुआ होता है, उतना ही उसका कलापक्ष समृद्ध होता है।

उद्देश्य :

प्रायः कहानी का उद्देश्य 'मनोरंजन' माना जाता है, पर विद्वानों के अनुसार कहानी किसी लक्ष्य-विशेष को लेकर चलती है और पाठक को वहाँ तक पहुंचा देती है। वस्तुत: कहानी का उद्देश्य यथार्थ के सुरुचिपूर्ण वर्णन द्वारा उच्चादर्श सम्बन्धी संदेश प्रदान करके, पाठक के मन में जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर देना ही है।

कहानी के उपरोक्त तत्व आपस में एक दूसरे से पूर्णत: अनुस्यूत होकर ही एक सर्जनात्मक कृति को जन्म देते हैं।

10.4. उपन्यास और कहानी में अंतर -

यद्यापि कहानी और उपन्यास दोनों का मूल उद्देश्य कथा-कथन है तथा इन दोनों विधाओं के तत्व समान है, फिर भी दोनों की संरचना में कुछ मूलभूत अन्तर है।

1. कहानी एक संक्षिप्त रचना है, उपन्यास विस्तृत।

2. कहानी में एक विचार - बिन्दु अथवा सम्वेदना का घनत्व होता है, उपन्यास में इनकी विविधता होती है।

3. उपन्यास में चरित्रों का विकास का पूरा अवसर होता है, कहानी में यह सम्भव नहीं है।

4. उपन्यास में वर्णनों-विवरणों आदि की सम्भावना होती है, कहानी में इसका अवकाश नहीं होता।

5. कहानीकार अपनी गहनतर भावनाओं को अत्यन्त कलात्मक ढंग से नितान्त व्यक्तिगत रूप में व्यक्त करता है, उपन्यास में इसकी जरुरत नहीं होती।

6. कहानी में चुस्ती के कारण भाषा - शैली गत प्रभाव का ध्यान रखना पड़ता है। शिल्पगत निपुणता अपेक्षित होती है। उपन्यास में इसकी आवश्यकता अपेक्षा कृत कम होती है।

इस प्रकार उपन्यास व कहानी मूलत: एक होकर भी एक ही विधा नहीं है।

10.5. दृश्य काव्य - नाटक:

काव्य के विविध भदोपभेदों में नाटक अत्यन्त मनमोहक व रमणीय ही नहीं, प्राचीन भी हैं। दृश्य काव्य के तीन भेद माने जाते हैं- नाटक, एकांकी, गीति नाट्य। इनमें नाटक का महत्वपूर्ण स्थान है। 'साहित्य दर्पण' में नाटक के कुछ लक्षण बताये है यथा –

1) नाटक की कथावस्तु प्रख्यात अर्थात प्रसिद्ध होनी चाहिय। नाटक उदात्त गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। उसमें धैर्य, गाम्भीर्य, शौर्य और त्याग आदि गुण होने चाहिए।

2) नाटक की कथा अंकों में विभक्त होनी चाहिए। अंकों की संख्या पाँच से दस तक होनी चाहिए। दस से अधिक अंकों वाले नाटक को 'महानाटक' कहा जाता है।

10.5.1. नाटक की उत्पति :

नाटक शब्द की उत्पत्ति नट् नाट्य या नृत धातु से मानी गई। नाटक में अभिनय, अनुकरण, नृत्त, नृत्य और गीत आदि सभी तत्व विद्यमान रहते हैं। हिन्दी में नाटक शब्द का प्रयोग अंग्रेजी ड्रामा शब्द के अर्थ में होता है। भारतीय नाटक में रस का महत्व अधिक है। इस में वीर अथवा श्रृंगार रस की प्रधानता होनी चाहिए तथा अन्य रस गौण रूप में आने चाहिए।

नाटक, वस्तुत: जीवन व जगत की अनुकृति है। इसमें मनुष्य व मनुष्येतर प्राणियों, देवों, दानवों, आदि का प्रस्तुतीकरण होता है। विगत का पुन: सर्जन व भाषा की कल्पना होती है। इसमें लोक जीवन स समन्वित भावाभिनय रहता है। इसमें सत्य और कल्पना का समन्वय होता है - शब्द ध्वनि व अभिनय द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

10.5.2. नाटक के तत्व:

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तत्वों पर विचार किया। उनके अनुसार वस्तु, पात्र, अभिनय, रस और वृत्तियाँ नाटक के मुख्य तत्व हैं। पाश्चात्य आचार्यों ने भी नाटक के कुछ तत्व बताए जो- निम्न प्रकार हैं।

वस्तु: नाटक के कहानी को वस्तु, कथावस्तु अथवा कथानक कहती है। कथावस्तु के 1) आधिकारिक 2) प्रासंगिक दो प्रकार होते हैं। जो कथा नाटक में प्रमुख होती है तथा आदि से अन्त तक चलती रहती है, जो मुख्य नायक या नायिका से सम्बन्चित होती है उसे आधिकारिक कथा कहा जाता है।

मुख्य कथा के साथ-साथ कुछ छोटी कथाएँ, घटनाएँ आदि चलती रहती है उन्हें प्रासंगिक कथा या गौण कथा कहा जाता है। प्रासंगिक कथा में पताका तथा प्रकरी दो प्रकार होते हैं। मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलने वाली कथा को पताका कहते है। जो कहानी बीच में ही समाप्त हो जाती है उसे प्रकरी करती है। नाटक के कथानक प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र होते है। प्रख्यात का अर्थ है लोक प्रसिद्ध। इसकी सम्बन्ध इतिहास, पुराण अथवा जनश्रुति से होता है। उदा: रामायण, महाभारत आदि। वह कथा जो नाटककार की कल्पना से प्रादुभूत होती है उसे उत्पाद्य करते है। उदा: मोहन राकेश का नाटक आधे – अधूरे। मिश्र कथानक में इतिहास व कल्पना के बीच कलात्मक समन्वय होता है। उदा- आषाढ़ का एक दिन।

नायक व पात्र: पात्र नाटक के प्राण होते हैं। मुख्य पात्र नायक होता है, वही नाटक का फल प्राप्त करता है जो अनेकानेक उदात्त गुणों से युक्त होता है। नायक के चार भेद - धीर ललित, धीर प्रशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धात हैं। नायिका नायक के बाद मुख्य पात्र हैं। श्रृंगार-प्रधान नाटको में नायिका का वशेष स्थान होता है। नायिका रूपवती, गुणशीला, शील, यौवन, माधुर्य युक्त, प्रसन्न, स्नेहपूर्ण, मधुर वचन बोलने वाली होती है। इनके अतिरिक्त उपनायक, विदूषक, और अनेक गौण पात्र भी होते हैं।

रस: भारतीय आचार्यों ने रस को नाटक का सर्वाधिक प्रमुख तत्व माना है। रस निष्पत्ति रसानुभूति तथा साधारणीकरण नाटककार का प्रमुख उद्देश्य होता है। भारतीय काव्य शास्त्र में रस को समग्र कलाओं का प्रापव्य माना गया है। रस-सिध्दि ही नाटक का भी चरम उद्देश्य है।

अभिनय : नाटक रंगमंच की वस्तु है, अतः उसमें अभिनेता का गुण होना आवश्यक है। अभिनय के द्वारा नाटक के सभी तत्वों का व्यवस्थित और सुसंगत करते है। अभिनय चार प्रकार के होते हैं - आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

वृत्तियाँ: नाटक में भाव, विचार और अर्थ प्रकाशन की विविध शैलियों को वृति कहा जाता है। इन्हें नाटक की माताएँ भी कहा गया है। शैली बाह्य विधान है तो वृत्ति आन्तरिक स्वंयोजन है। कौशिकी, सात्विकी, आरभटी और भारती विविध प्रकार के वृत्तियाँ हैं।

कथोपकथन: कथोपकथन कथा वस्तु को अग्रसर करते हैं तथा पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करते हैं। कथोपकथन के आधार पर ही नाटकीयता का मूल्यांकन किया जाता है। ये संक्षिप्त, चुटेली, पात्रानुकूल तथा स्वाभाविक होने चाहिए।

देशकाल तथा वातावरण: नाटक से सम्बन्धित कथावस्तु के देशकाल का स्वाभाविक वर्णन नाटक को सजीवता एवं वास्तविकता प्रदान करता है। उसमें युग का समूचा परिवेश - सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि का समावेश होता हैं।

भारतीय और पाश्चात्य नाटकों में समानताओं के साथ-साथ कुछ विभिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। भारतीय नाटक अंकों में विभक्त होते हैं, जबकि न्यूनानी नाटकों में अंक नहीं होते। वहाँ दृश्य परिवर्तन कोरस (chorus) से दी जाती है। भारतीय नाटक सुखान्त होते हैं तो पाश्चात्य दुखान्त या ट्रेजेडी को श्रेष्ठ मानते हैं। भारतीय नाटकों में 'रस' व 'अनुभूति' का प्राधान्य वही यूनानी नाटकों में संघर्ष व द्वन्द प्रधान रहे।

इस प्रकार दोनों प्राचीन राष्ट्रों में समृध्द नाट्य परम्परा का विकास स्वतन्त्र रुप से हुआ जिनका प्रभाव कालान्तर में समग्र नाटक लेखन पर पडा।

10. 6. एकांकी-

'एकांकि' यह नामकरण अंग्रेजी 'वन एक्ट प्ले' के आधार पर किया गया है। इसमें कथा एक ही अंक में पूर्ण हो जाती है। सामान्यत- नाटक या ड्रामा एक बड़ी रचना होती है जिसमें तीन से दस तक, अंक होते हैं, एक-एक अंक में कई दृश्य होते है तथा पात्रों व घटनाओं की संख्या भी अधिक होती है। एकांकि मेंनाम के अनुरूप एक ही अंक होता है - जिसमें तीन से पाँच तक दृश्य हो सकते हैं। जहाँ नाटक के मंचन में दो से तीन घंटों का समय लगता है, वही एकांकी में मंचन पंद्रह - बीस मिनट से आधे घंटे के भीतर पूरा हो जाता है। एकांकी एक स्वतंत्र विधि-है।

गद्य की अन्य विधाओं के समान हिन्दी साहित्य में 'एकांकी नाटक' के प्रणयन का श्री गणेशं भी भारतेन्दु युग में हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने एक अंक वाले नाटक लिखने की परम्परा आरम्भ की। उन्होंने ओपेरा, व्यंग, गीतिरूपका, नाट्य, रासक, भाण आदि अनेक प्रकार के एकांकी रचे। प्रसाद युग में हिन्दी नाटकों पर या पाश्चात्य शैली का प्रभाव पड़ा और डॉ- राजकुमार वर्मा ने नवीन शिल्प के जो एकांकी लिखे, वे ही आधुनिक एकांकी के रुप में प्रसिद्ध हुए।

एकांकी का स्वरूप और परिभाषा: एकांकी नाटक एक अंक वाला मात्र नाटक होता है जिसमें केवल एक ही अंक में सम्पूर्ण नाटक, समाप्त हो जाता है, परन्तु नाटक के एक अंक को एकांकी नहीं कह सकते। एकांकी नाटक एक स्वतंत्र विधा है, जिसमें नाटक के सम्पूर्ण तत्व होते है और साथ ही कुछ निजी विशेषताएँ भी। एकांकी में नाटककार किसी विशेष समस्या, किसी विशेष परिस्थिति अथवा घटना का इस प्रकार नियोजन करता है कि धीरे-धीरे अपने आप विकसित हो जाय।

डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार – "एकांकी में एक ही घटना होती हैं और वह घटना नटकीय कौशल से कुतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँच जाती है। इसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता।"

श्री उदयशंकर भट्ट के अनुसार – "एकांकी में जीवन का अंश परिवर्तन का एक क्षण, सब प्रकार के वातावरण से प्रेरित एक झोंका, दिन में एक घण्टे की तरह मेघ में बिजली, की तरह, वसन्त में फूल के खिलने की तरह – व्यक्त होता है।"

एकांकी की विशेषताएँ:

1. एकांकी में आधार रूप से एक ही प्रमुख घटना या जीवन की एक प्रमुख संवेदना होनी चाहिए जिसका विकास कौतूहल और जिज्ञासा पूर्ण नाटकीय शैली से होनी चाहिए।

2. एकांकी में अन्तरकथाएँ नहीं होती है। चरम सीमा पर पहुँचकर एकांकी का अंत होना चाहिए।

3. एकांकी में जीवन के यथार्थ तथा मनोरंजन के तत्वों का समावेश हो।

4. संघर्ष एकांकी का प्राण है। इसकी अभिव्यंजना का आधार मनोवैज्ञानिक होना चाहिए।

5.कथानक में कौतूहल तथा जिज्ञासा होने चाहिए इसकी परिणति क्षित्रगति से 'चरम सीमा' में होनी चाहिए।

6. यथार्थ और आदर्श - कल्पना और वास्तविकता का समन्वय हो।

7. कला - पक्ष में एकांकी की स्वाभाविकता और जीवन में निकटता बनाये रखने के लिए संकलन त्रय का पालन हो।

एकांकी का आकार छोटा रहे और अवधि कम लगे।

एकांकी के तत्व -

1. कथानक - एकांकी में एक ही घटना को चरम सीमा तक विकसित किया जाता है। यह कथानक सुगठित और संक्षिप्त होता है, इसके कथानक में संघर्ष अथवा द्वन्द का विशेष- महत्व है। यह बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार का हो सकता है। कथा की चार अवस्याएँ - प्रारम्भ, विकास, चरमसीमा और समापन एकांकी में भी स्वीकार की गयी हैं। यह बात दूसरी है कि लघु आकार और संक्षिप्त के कारण कथानक इतना तेजी से बढ़ता है कि इन अवस्थाओं को अलग पकड़ना सहज नहीं होता।

2.चरित्र- चित्रण:- चरित्रांकन की स्वाभाविकता, तटस्थता, सहानुभूति और काल्पनिकता - एकांकी के चरित्रांकन को उत्तम बनाते हैं। समयाभाव के कारण चरित्र का एकल प्रभाव अपेक्षित है। चरित्र आरोपित नहीं होना चाहिए, कथा विकास के अन्तर्गत ही उसका विकास होना चाहिए, जिनमें अन्त: बाह्य दोनों द्वन्दों का समावेश हो।

3. संवाद :- एकांकी का मूलाधार तो संवाद ही है। संवाद हमें पात्रों की सूक्ष्म बातें समझाने में सहायक होते हैं। पात्रों के भावों, विचारों और प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध का पता हमें कथोपकथन से ही चलता है।

4. देशकाल - देशकाल का महत्व एकांकी में भी है, क्योंकि पात्र जिस स्थिति और वातावरण में हैं और कार्य करते हैं, उसके बिना पात्रों के चित्रण में पूर्णता नहीं आ पाती, किन्तु एकांकी का आकार लघु होने के कारण उसमें वातावरण - देशकाल ध्वनित ही होता है।

5. भाषा - शैली: - अभिनेता की दृष्टि से सरल, सुबोध, स्वाभाविक, पात्रानुकूल, परिस्थिति के अनुकूल, भावपूर्ण भाषा का ही महत्व है। सामान्य अलंकारों का प्रयोग, मुहावरे और हल्की लाक्षणिकता उसकी भाषा को महत्व प्रदान करते हैं।

6. उद्देश्य :- एकांकीकार का उद्देश्य तो कुछ न कुछ होती है, उसका सफल निर्वाह ही अपेक्षित है। यह उद्देश्य एकांकी में ध्वनित होता है।

7. अभिनेयता :- एकांकी का सम्बन्ध मंच से है, अत: उसमें अभिनेयता को गुण होना आवश्यक है। ऐसा दृश्यों का समावेश जिनका अभिनय हो सके, वेश-भूषा, आंगिक अभिनय भी इस प्रकार का होना चाहिए, जिनका सहजता में मंचन सम्भव हो सके। अभिनेयता की दृष्टि से वातावरण - निर्माण एवं सूक्ष्म रंग - निर्देश भी होना चाहिए।

8. संकलन त्रय : संकलन त्रय तात्पर्य है- स्थान, समय और कार्य की एकता अर्थात् एक ही स्थान - विशेष, एक ही काल -विशेष की घटनाओं को कार्य की एकता के आधार पर प्रस्तुत करना। एकांकी में भी संकलन त्रय उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना नाटक में। सेठ गोविन्ददास के अनुसार – "पूरे नाटक के लिए संकलन - त्रय, जो नाट्य कला के विकास की दृष्टि से भारी अवरोध है, वही संकलनत्रय कुछ हेर-फेर के साथ एकांकी नाटक के लिए जरूरी चीज है। संकलनत्रय में संकलन - द्वय अर्थात् नाटक का एक ही समय की घटना तथा एक ही कृत्य के सम्बन्ध में होना तो एकांकी नाटक के लिए अनिवार्य है।"

नाटक तथा एकांकी में अंतर :- ये दोनों ही दृश्य काव्य की विधा हैं और दोनों का ही सम्बन्ध रंगमंच से है। एकांकी आकार में छोटा होते हुए भी, एक अंक का पूर्ण नाटक है। इन दोनों में जो अन्तर है - इस प्रकार है-

1. नाटक में जीवन का विस्तार होता है। उसका स्तोत्र व्यापक होता है। एकांकी का स्तोत्र सीमित होता है उसमें जीवन के एक ही पहलू का चित्रण होता है।

2. नाटक में पात्रों की बहुलता, जीवन की अनेक रूपता व घटनाओं का आधिक्य होता है। एकांकी में पात्र व घटनाएँ कम होती हैं।

3. नाटक में कथानक विस्तृत व जटिल होता है। मुख्य कथा के साथ-साथ प्रासंगिक कथाओं का समावेश होता है। एकांकी में कथानक सरल व संक्षिप्त होता है। प्रासंगिक घटनाओं का स्थान नहीं होता।

4. नाटक में समुचित प्रारम्भ, मध्य व अवसान होता है। एकांकी में कहानी सीधे आरम्भ हो जाती है।

5. संकलन त्रय का निर्वाह नाटक में आवश्यक नहीं है लेकिन एकांकी में संकलन त्रय का निर्वाह आवश्यक होता है।

6.नाटक का सूत्र है -कई अंक कई घटनाएँ - अनेक, कार्य। एकांकी का सूत्र है -एक अंक - एक घटना -एक कार्य।

7. नाटक की गति धीमी होती है। इसमें रसानुभूति की अधिक गुंजाइश होती है। साधारणीकरण भी सम्भव है। एकांकी की गति धीमी होती है लेकिन रसानुभूति तथा साधारणीकरण प्रायः कम होता है।

8. नाटक मा शिल्प विधान कलात्मक संयोजन की अपेक्षा करता है। एकांकी का कला विधान अभिव्यंजना की संक्षिप्तता, सम्प्रेषण की कुशलता की अपेक्षा करता है।

इस तरह नाटक और एकांकी दृश्य काव्य के दो रूप होते हुए भी कुछ समानताओं और कुछ असमानताओं से परिलक्षित होते हैं।

10.7. निबंध:

हिन्दी के 'निबन्ध' अंग्रेजी 'ऐसे' (Essy) का पर्यायवाची माना जाता है। निबंध वस्तुत: अपने आप में एक पूर्ण रचना है और स्वतन्त्र विधा है। संस्कृत में निबन्ध का समानार्थी शब्द प्रबन्ध है, जिसका मूल अर्थ

है बाँधना किन्तु आज प्रबन्ध शब्द काव्य के लिए रूढ़ हो गया है। निबन्ध में अन्य पर्याय हैं - लेख संदर्भ, प्रस्ताव एवं रचना।

आधुनिक निबंध का स्वरूप प्राचीन निबंधों से नितांत भिन्न है। जहाँ ज्ञान विज्ञान की अन्य शाखाओं यथा विज्ञान राजनीति, अर्थ शास्त्र आदि में विचारों के प्रतिपादन हेतु लेख लिखा जाता है, वही साहित्य में भाव व विचार प्रकाशन हेतु गद्य रचना लिखी जाती हैं, वही निबंध है। जहाँ लेख विषय प्रधान होता है, वही निबंध विषयी का संस्पर्श लिखे होता है। निबंध में लेखक के व्यक्तित्व के संस्पर्श के कारण कलात्मकता आ जाती है।

10.7.1. निबंध की परिभाषा: निबन्ध की परिभाषा, पाश्चात्य और भारतीय दोनों विचारकों ने प्रस्तुत की है। प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. जॉनसन ने कहा था "निबंध एक प्रकार से मन की अस्त-व्यस्त स्थिति की साहित्यिक अभिव्यक्ति हैं।" उन्होंने निबन्ध को स्वच्छन्द्र मन की तरंग माना जिसमें तारतम्य और संगठन का अभाव हो। हर्वर्ट रीडन निबंध की परिभाषा करते हुए लिखा –"ऐसे किसी का जीवनवृत्त या आान्चनालक विश्लेषण नहीं होता, न ही यह इतिहास होता है और न ही प्रबन्ध। इसमें किसी विषय का व्यक्तिगत विश्लेषण तो होता है, परन्त आत्मीयता के रूप में नहीं, यह विषयगत तो होता है, परन्तु विवेचनात्मक नहीं।" आचार्य शुक्ल के अनुसार – 'आधुनिक, लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात व्यक्तिगत विशेषताएँ है।

निबंध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों को साथ लिये चलता है।

अन्तत: कहा जा सकता है – "निबन्ध एक ऐसी छोटी गद्य रचना है जो अपने आप में पूर्ण हैं। जिनमें भाव या विचार प्रतिपादन के साथ-साथ लेखक के व्यक्तित्व का संस्पर्श विद्यमान रहता है।

10.7.2. निबंध की विशेषताएँ या निबंध के तत्व:

1. गद्यत्व संक्षिप्तता: निबंध अनिवार्यत: एक गद्य रचना है जिसमें संक्षिप्तता अपेक्षित होती हैं। निबंध में विचारों की सुनिश्चित तारतम्यता होती है।

2. संगठन – निबन्ध का संगठन व्यवस्थित होता है। इसके विषय प्रतिप्रदान में भले ही अनिश्चितता हो, पर प्रारम्भ, मध्य और उपसंहार के रूप में इसमें सुनिश्चित तारतम्यता बनी होती है।

3. अभिव्यंजना या व्यक्ति की छाप – निबंध में निबंधकार के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। लेखक का अपना निजी व्यक्तित्व होता है। उसकी संवेदना. संवेग, संकल्प, सोच-चिन्तन, अनुभूतियाँ, स्वभाव, व्यवहार, चरित्र दृष्टिकोण आदि ऐसी विशेषताएँ हैं, जो व्यक्तित्व का निर्माण करता है और ये विशेषताएँ प्रत्येक लेखक में अलग-अलग पायी जाती है।

रचना-शिल्प की दृष्टि से भाषा-प्रयोग, शिल्प-वैशिष्ट्य, शैली-वैशिष्ट्य, विश्लेषण- पध्दति की भिन्नता आदि के कारण भी लेखक का अपना एक साहित्यिक व्यक्तित्व निर्माण होता है। यह व्यक्तित्व हर लेखक का अलग-अलग होता है और यह उसके निबंधों की रचना को प्रभावित करता है।

4) रोचकता – निबंध एक ऐसी रचना है जिसकी सजीवता और रोचकता का समावेश होना चाहिए। उसमें शैली के उत्कर्ष के लिए हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिकता, अलंकारिकता, चमत्कारिकता ध्वनि आदि का समावेश लेखक उसे रोचक बनता है।

5. भावों व विचारों का समन्वय – निबन्ध रचना में विचारों के प्रतिपादन और प्रमाणीकरण की आवश्यकता नहीं होती। निबन्धकार अपने विचार व्यक्त करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होता है। इसके प्रतिपादन में भावों और विचारों का सुन्दर सामंजस्य उत्पन्नकिया जाता है।

6. औपचारिकता का अभाव- निबन्ध में पाठक और लेखक का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वस्तुतः उत्कृष्ट निबन्ध एक खुला पत्र है जिसे किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं लिखा जाता। इसमें 'सम्बोधन' और स्वनिर्देश का अभाव होता है। सदृश्य पाठक निबन्ध को अपने लिये लिखी हुई रचना समझकर उसके साथ आत्म साक्षात्कार करता है। निबंध रचना के लिए 'भाव-साधना, विचार साधना, और शब्द-साधना' की आवश्यकता होती हैं।

10.7.3. निबंधों के प्रकार -

निबंधों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। विषय के आधार पर निबंधों को कई रूपों में बाँटा गया - सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानि आदि। रचना शैली की दृष्टि से भी निबंधों को कई वर्गों में बाँटा गया। यथा- विचारात्मक, आलोचनात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक आदि।

विचारात्मक निबंधों का विषय कोई ऐसी समस्या होती है, जिसका सम्बन्ध समाज, धर्म, राष्ट्र, संस्कृति, साहित्य आदि से होता है।

भावात्मक निबंधों को निबंध का असली रूप कह सकते हैं। इस निबंध में विशिष्टता, वैयक्तिकता, व्यक्त होते हैं। भावात्मक निबंधों में निबन्ध का वास्तविक रुप प्रकट होता है। इनमें वैयक्तिक अनुभवों, प्रतिक्रियाओं एवं संवेदनाओं का सहज वर्णन मिलता है।

वर्णनात्मक निबन्ध वर्णन या विवरण प्रधान होता है। ये विवेचना प्रधान और कल्पना- प्रधान निबन्ध है। ये वर्णन और विवरण अर्थ ग्रहण करने वाले और बिम्ब ग्रहण करने वाले होते हैं।

विवरणात्मक निबन्ध - इनमें वस्तु को उसके स्थिर रूप में न देखकर उसके गतिशील रुप में देखा जाता है। इनको कलात्मक निबन्ध भी कहा जाता है। प्राय: शिकार, पर्वतारोहण, दुर्गम, प्रदेश की यात्रा, साहसपूर्ण का कार्य आदि के वर्णन इन का वर्ण विषय बनता है।

10.7.4. निबन्ध शैली: विषय प्रतिपादन में शैली का बड़ा महत्व है। यही वह तत्व है जो किसी कृति को कलात्मक बनता है। भाव सम्प्रेषण में इसका बड़ा महत्व है। शैली में मुख्यतः सामास शैली, प्रसाद शैली होती है। समास शैली की उपयुक्तता विचारात्मक निबंधों के अनुरूप होती है। प्रसाद शैली में व्यास शैली, विक्षेप शैली और धारा शैली होती हैं जो ललित निबंधों के लिए उपयुक्त होती हैं।

अन्ततः निबंध में विषय-निरूपण, एकान्विति, आत्मतत्व और कलात्मकता आदि विषयों का प्राधान्य होता है।

10.8. रेखाचित्र :

रेखाचित्र मूलत: चित्रकला का शब्द है। रेखाओं के द्वारा निर्मित चित्र को रेखाचित्र कहते हैं। साहित्य में रेखाओं के स्थान पर शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अत: कुछ विद्वान इसके लिए 'शब्द चित्र' शब्द का प्रयोग करते है। शाब्दिक दृष्टि से भी रेखाचित्र का अर्थ होता है -रेखाओं की सहायता से बनाया गया चित्र। रेखा चित्र अंग्रेजी के शब्द स्केच (sketch) का पर्यायवाची है। रेखाचित्र को व्यक्ति-चित्र एवं चरित्र-लेख भी कहा जाता है।

रेखाचित्र साहित्य की वह गद्यात्मक विधा है, जिससे किसी विषय-विशेष, व्यक्ति-विशेष का उसकी बाह्य विशेषताओं को उभारते हुए, विभिन्न संक्षिप्त घटनाओं को समेटते हुए शब्द रेखाओं के माध्यम से सजीव, सरस, मर्मस्पर्शी एवं प्रभावशाली चित्र उभारा जाता है। जिस प्रकार चित्रकार आडी-तिरछी रेखाओं से सुन्दर सजीव-सा चित्र चित्रित करता है, उसी प्रकार रेखाचित्रकार जीवन की विविध घटनाओं, भक्तियों, दृश्यों का एसा प्रभावशाली वर्णन करता है कि पाठक के सामने वह व्यक्ति, प्रसंग वातावरण अथवा स्थान साकार हो उठता है।

10.8.1. रेखाचित्र की विशेषताएँ:

1. यथा तथ्य वास्तविक चित्रण: रेखाचित्र में कल्पना और अनावश्यक चित्रण को स्थान नहीं रहता। रेखाचित्र का मूल लक्ष्य संवेदना जगाना होता है इसलिए इसमें वास्तविक चित्रण होता है।

2. एकात्मकता- इसमें लेखक की दृष्टि एक, ओर ही केन्द्रित होने के कारण विषयवस्तु में विविधता का समावेश नहीं होता।

3.चित्रांकन: वर्णित पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को उभारकर प्रस्तुत करना ही रेखाचित्र का मूल भाव होता है। लेखक अपने अनुभव के आधार पर व्यक्ति की रूप रेखा और व्यक्तित्व को उभारता है।

4. संवेदन जगाना: संवेदना भावात्मक है। लेखक वर्णित पात्र की प्रेम, दया, करुणा आदि भावों को संवेदना जागाने में पूर्ण सक्षम होती है।

5. शैली: रेखाचित्र के लिए विशिष्ट शैली की आवश्यकता होती हैं; जिसके बिना सफल शब्द-चित्र उभरना सम्भव नहीं हैं। शैली में चित्रात्मकता, भावात्मकता, सांकेतिकता एवं संक्षिप्तता होना आवश्यक है। उसमें हास्य- व्यंग्य का पटु, उपयुक्त शब्द चयन, सार्थक व्यंजक, विशेषणों की योजना एवं लाक्षणिकता का समावेश अपेक्षित है, क्योंकि उसमें वर्णन विस्तार नहीं होता।

10.8.2. रेखाचित्र के तत्व: रेखाचित्र के निम्न तत्व होते हैं -

1. पात्र या वस्तु- रेखाचित्र में उस पात्र या वस्तु का चित्रण होता है, जिसके साथ रेखा चित्रकार का कुछ सम्पर्क रह चुका होता है और उस पात्र का व्यक्तित्व या चरित्र उसके हृदय को छू चुका होता है।

2. भाषा शैली: रेखाचित्र की मूल संवेदना उभारने हेतु उसे सामान्य शब्दों में चित्रित न करके भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी शब्दों में अंकित किया जाता है। विषयानुरूपी शैली की माहत्ता रेखाचित्र के लिए आवश्यक है, क्योंकि रेखाचित्रकार के लिए संक्षिप्त, पैनी-दृष्टि और मार्मिकता की आवश्यकता होती है। इसमें शब्द - योजना तथा वाक्य - विन्यास का पूर्ण ध्यान रखा जाता है। भाषा पात्रानुकूल अपेक्षित है। मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग, अलंकार, उक्ति- वैचित्र्य, लक्षण-व्यंजना आदि से चित्र को सजीव एवं सरस बनाया जा सकता है। अतः भाषा में प्रांजलता, सजीवता, रमणीयता, गम्भीर्य, सुसंगठिता होनी चाहिए तथा शब्द रेखाओं में अभिव्यक्ति की शक्ति होनी चाहिए।

उद्देश्य : - रेखाचित्र का मूल उदेश्य जीवनोन्नयक तत्वों का उद्बोधन ही है। इसमें शब्द-चित्र द्वारा पाठक के भाव-विचार को जाग्रत कर उससे आदर्श के बोध कराने का प्रयास रहता है।

इस तरह रेखाचित्र भी साहित्य के गद्य विधाओं में एक प्रमुख विधा है।

10.9. संस्मरण :

संस्मरण का शाब्दिक अर्थ होता है- सम्यक स्मरण। इसमें गंभीर -चिंतन होता है। मानव जीवन की कटु, तिक्त एवं मधुर स्मृतियाँ, अनुभूति और संवेदना का संसर्ग प्राप्त करके जब हृदय से निकलती हैं, तब वे संस्मरण का रूप धारण कर लेती हैं। संस्मरण आधुनिक गद्य साहित्य की एक उत्कृष्ट एवं ललित विद्या है।

10.9.1. संस्मरण की परिभाषा:

हॉ. कृष्णदेश शर्मा के अनुसार 'संस्मरण लिखने वाला शब्दों द्वारा जीवन की विविध घटनाओं, व्यक्तियों और दृश्य का ऐसा सजीव चित्र उपस्थित करता है कि पाठक के सम्मुख वह व्यक्ति, वातावरण या प्रसंग साकार हो उठता हैं। गद्य में लिखे गये इसी चित्र को संस्मरण करते हैं।"

डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार "भावुक कलाकार जब अतीत की अनन्त स्मृतियों में कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अनुरंजित कर व्यंजनामूलक संकेत शैली में अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से विशिष्ट कर रोचक ढंग से यथार्थ में व्यक्त कर देता है। तब उसे संस्करण करते हैं।

10.9.2. संस्मरण के तत्व या नियामक तत्व –

1. संस्मरण की एक शर्त सहानुभूति पूर्ण हृदय की अनिवार्यता हैं। इससे संस्मरण की सफलता होती है।

2. व्यक्तिगत सम्पर्क की अनिवार्यता संस्मरण की दूसरी प्रमुख तत्व है। इसके बिना उसकी रुचि, अरुचि, आकर्षण, विकर्षण आदि को नहीं पता कर सकते हैं।

3. लेखक की स्वनिरीक्षण की क्षमता संस्मरण की तीसरी तत्व है। लेखक को अपनी स्वभावात विचित्रताओं का भी दृष्टा बनना पड़ता है। तभी रचना में गहराई आ पाती है।

4. संस्मरण की रचना के प्रारंभ तथा अंत रोचक होना चाहिए। तभी पाठक उसे पूरी पढ़ना चाहेगा और अन्त की रोचकता उस पर स्थायी प्रभाव छोड़ने में समर्थ होगी।

10.9.3. संस्मरण और रेखाचित्र :

रेखाचित्र और संस्मरण पर्याप्त निकट की विधाएँ स्वीकार की जाती हैं। दोनों में ही अतीत की घटनाओं, स्मृतियों, भावानुभूतियों को ऐसा चित्रण रहता है कि उनमें वर्णित वस्तु, घटना, स्मृति के यथार्थ चित्र सामने उभर आयें और भावनामूलक तथा कल्पनामूलक रोचकता, यथार्थ के साथ मिली - जुली है। दोनों में ही लेखक की व्यक्तिगत रुचियों की महत्ता होती है।

इसके साथ-साथ अन्तर भी पर्याप्त है - संस्मरण अधिकतर प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा प्रसिद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में लिखे जाते हैं, पर रेखाचित्र सामान्य व्यक्ति पर भी लिखा जा सकता है। रेखाचित्र चरित्र उभारने का कार्य करता है, अत: उसे चारित्रिक चित्र भी माना जाता है, जबकि संस्मरण व्यक्ति - विशेष के चरित्र का दर्पण बनकर सामने आता है। रेखाचित्र का वर्णन करता है, संस्मरण परिस्थिति विशेषक का, क्षण -विशेष का एक सजीव बिम्ब उभारकर पाठक के मन में उस बिम्ब को साकार कर देता है।

10.10. सारांश :

साहित्य में गद्य विधा आधुनिक काल का देन है। साहित्यिक गद्य रचना में साहित्य के तत्व अर्थात सर्जनात्मकता, वैयक्तिक संस्पर्श, कल्पना, भावना व शैली की विशिष्टता समाहित होते है। इसमें अर्थ विभिन्न स्तरों तथा अभिव्यंजना कौशल का समावेश भी होता है।

साहित्यक गद्य रचना अपने आप में 'कृति' होती है। प्राचीन विद्वानों ने गद्य लेखन को लेखक की कसौटी माना है। काव्य की अपेक्षा गद्य अधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष होती है। आज के युग में विज्ञान, विविध-प्रकार के सामाजिक, विज्ञान, पत्रकारिता, वाणिज्य व्यापार तथा प्रशासनिक कार्यवाही गद्य में ही होती है। साहित्यिक गद्य भावनात्मक, वैयक्तिक संस्पर्श युक्त, बिंबात्मक प्रतीकात्मक तथा अर्थ के विविध स्तरों से युक्त होता है। आज के युग में गद्य- साहित्य का प्रचार - प्रसार और सृजन काफी बढ़ गया है। गद्य साहित्य की प्रमुख विधाएँ कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आत्मकथा, जीवनी, डायरी, रिपोर्तज, रेखाचित्र, संस्मरण आदि है। दृश्य काव्य के नाटक और एकांकी प्रमुख विधाएँ हैं। इस इकाई में उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण के स्वरुप, परिभाषाएँ, विशेषताएँ, तत्व आदि की जानकारी देन की प्रयास किया गया है। उपन्यास और कहानी में अंतर, नाटक और एकांकी में अंतर को बताया गया हैं।

10.11. बोध प्रश्न :

1) उपन्यास के स्वरूप पर विचार करते हुए उसके तत्वों का उल्लेख कीजिए।

2) कहानी की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उत्कृष्ट करानी के गुणों का वर्णन कीजिए।

3) कहानी और उपन्यास के तत्वों में साम्य होते भी दोनों अलग - अलग है। "इस कथन को दृष्टि में रखते हुए दोनों का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

4) नाटक और एकांकी के तत्वों के बारे में बताते हुए दोनों में अंतर भी स्पष्ट कीजिए।

5) निबंध के बारे में स्वरूप को स्पष्ट करते उसके प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र- डॉ. त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव

डॉ. एम. मंजुला

11. क्रोचे: अभिव्यंजनावाद

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की जानकारी दी जा रही है। इस इकाई को पढ़कर आप: क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के बारे में बता सकेंगे। अभिव्यंजनावाद के विविध आयामों के बारे में जानकारी दे सकेंगे।

इकाई VII

11.0. उद्देश्य

11.1. प्रस्तावना

11.2. क्रोचे : साहित्यिक परिचय

11.3. अभिव्यंजनावाद

11.4. अभिव्यंजनावाद का स्वरूप

11.5. अभिव्यंजनावाद : स्वरूप और प्रकृति

11.5.1. भावनाओं की भूमिका

11.5.2. बाह्यीकरण

11.6. अभिव्यंजनावाद के विविध आयाम

11.7. सारांश

11.8. बोध प्रश्न

11.1. प्रस्तावना

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद बीसवीं शताब्दी के महत्वपूर्ण साहित्य सिद्धांतों में गिना जाता है। क्रोचे हालांकि मुख्य रूप से एक आदर्शवादी दार्शनिक थे (अर्थात जो आत्मा को ही एकमात्र सत्य मानते हैं भौतिक जगत की सत्ता को स्वीकार नहीं करते जैसे हमारे यहाँ आदि शंकराचार्य हुए हैं) किंतु उन्होंने अन्य अनेक विषयों के साथ-साथ सौंदर्यशास्त्र पर भी गहराई से विचार किया था, इसके परिणामस्वरूप कला की रचना प्रक्रिया, कला के निजी विशिष्ट स्वरूप, कला और नैतिकता का प्रश्न, कला में भावनाओं की अभिव्यक्ति का स्वरूप आदि महत्वपूर्ण विषयों पर गहरी अंतर्दृष्टि का परिचय देते हुए अनेक मौलिक उद्भावनाओं से सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र को समृद्ध किया। क्रोचे की इन मौलिक संकल्पनाओं ने कला और विशेष रूप से साहित्य के विशिष्ट स्वरूप को समझने में आलोचकों और साहित्य के अध्येताओं की बहुत सहायता की है। क्रोचे का एक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में काव्यशास्त्र के आतंक को चुनौती देते हुए कविता को काव्यशास्त्र के उपादानों के बिना नहीं समझा जा सकता, इस पूर्वग्रह को खंडित किया। ऐसा करके उन्होंने रचना के अप्रतिम महत्व को फिर से स्थापित किया। इतना ही नहीं क्रोचे अपने संपूर्ण चिंतन के द्वारा कला और साहित्य के क्षेत्र में हर प्रकार के आभिजात्य पर चोट करते हैं। इसके पीछे उनका उद्देश्य साहित्य को फिर से आम पाठक के रसास्वादन की वस्तु बनाना रहा है।

11.2. क्रोचे : साहित्यिक परिचय

निपोलिटैन बेनेदेत्तो क्रोचे (1860-1952) द्वारा प्रतिपादित अभिव्यंजनावाद बीसवीं शताब्दी के एक महत्वपूर्ण साहित्य सिद्धांत के रूप में स्थापित है। क्रोचे स्वयं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सौंदर्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र के भी एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर थे। पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत के विकास में अभिव्यंजनावाद की ऐतिहासिक भूमिका रही है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं और अत्यंत महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका ला क्रिटिका के लंबे समय तक किए गए उनके संपादन ने उन्हें ख्याति के शिखर पर पहुंचा दिया। क्रोचे का सौंदर्य-शास्त्र को सबसे महत्वपूर्ण योगदान है, उनका यह सिद्धांत की कला अभिव्यंजना है। दार्शनिक मान्यताओं की दृष्टि से देखें तो क्रोचे अनुभववाद में विश्वास करते थे और मानते थे कि केवल मनुष्य द्वारा दिया जाने वाला ठोस अनुभव ही सत्य है। अतः दर्शन अपनी संपूर्णता में आत्मा या मानस का दर्शन है और इतिहास से अविभाज्य है। यही कारण है कि क्रोचे ने अपने दर्शन को पूर्ण आदर्शवाद या पूर्ण इतिहासवाद के नाम से अभिहित किया गया है।

11.3. अभिव्यंजनावाद-

अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) मूलतः आत्म-वादी दार्शनिक हैं। उनका उद्देश्य साहित्य में आत्मा की अन्तः सत्ता स्थापित करना था। क्रोचे का अभिव्यंजना वाद कला के मूल तत्व की खोज का प्रयास है। कला का वास्तविक तत्व क्या है अथवा उसकी आत्मा क्या है, इस विषय में क्रोचे ने अपना गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है, जो सूक्ष्म भी है। क्रोचे के समस्त सौन्दर्य-विवेचन में

आत्म-तत्व प्रतिष्ठित है। यह आत्म-तत्व कलाकार की चेतना है। इस आत्म-तत्व को क्रोचे ने आन्तरिक कहा है, जो इस जगत में मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रतिक्रिया करता है।

11.4. अभिव्यंजना का स्वरूप-

क्रोचे के अभिव्यंजनवाद की प्रमुख बातें निम्नांकित बिन्दुओं द्वारा समझी जा सकती हैं-
(1) अभिव्यंजनवाद का सम्बन्ध सहज ज्ञान या कलात्मक ज्ञान से है।

(2) अभिव्यंजनवाद का सम्बन्ध बाह्य जगत से बिल्कुल नहीं है।

(3) काव्य में अभिव्यंजनवाद ही सब कुछ है। क्रोचे की दृष्टि में अभिव्यंग्य का मूल्य कुछ भी सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति कलाकार के मन में होती है। बाद में आश्रय-भेद से उसको अभिव्यक्ति मिलती है।

(4) कवि की सौंदर्य भावना का गत्यात्मक रूप ही अभिव्यंजनावाद में आता है। इसकी सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति कलाकार के मन में होती है। बाद में आश्रय-भेद से उसको अभिव्यक्ति मिलती है।

(5) सहज ज्ञान स्वयं प्रतिच्छविरूप है। यह प्रतिच्छवि अन्तर जगत से ही सम्बन्धित है।

(6) अभिव्यंजना अपने आप में पूर्ण है। किसी भी प्रकार के बाह्य उद्देश्य से उसका कोई प्रयोजन नहीं दिखाई पढ़ता है।

(7) कला आध्यात्मिक क्रिया है और अभिव्यंजना उसी का दूसरा नाम है। कला का मूर्त रूप अभिव्यंजना है।

(8) अभिव्यंजनावाद में जो प्रक्रिया काम करती है, उसके स्तर हैं- संवेदना, सहजानुभूति, आनंदानुभूति और सहजानुभूति का मूर्तीकरण।

(9) स्वभावतः प्रत्येक व्यक्ति कलामय है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में सहजानुभूति का स्तर होता है और यह निर्विवाद सत्य है कि जहाँ सहजानुभूति है, वहीं पर अभिव्यंजनावाद स्वतः प्रमाणित है।

(10) क्रोचे की दृष्टि में अभिव्यंजना सौंदर्य का रूपान्तर है, क्योंकि उन्होंने सौंदर्य को न तो वस्तु में स्वीकार किया है और न अभिव्यंजना में।

11.5. अभिव्यंजनावाद : स्वरूप और प्रकृति

क्रोचे का दर्शन मानसिक अथवा आध्यात्मिक कार्यव्यापारों के अनुसार मानस की चार मूलभूत क्रियाओं का उल्लेख करता है। सर्वप्रथम तो मानस की दो मुख्य क्रियाएँ हैं- यानी मानसिक गतिविधि या तो अवधारणात्मक होती है या व्यावहारिक। अर्थात वह या तो समझने का कार्य करती है या सोच-विचार करती है और दूसरे किसी कार्य को करने की इच्छा या इरादा करती है। क्रोचे ने इनके और दो विभाजन किए हैं। अवधारणात्मक गतिविधि के दो क्रिया क्षेत्र होते हैं- पहला सौंदर्यशास्त्रीय और दूसरा तार्किक या /बौद्धिक क्षेत्र। इनमें से पहला विशिष्टताओं (व्यक्तियों या सहजानुभूतियों/ अंतःप्रज्ञाओं) पर ध्यान देता है और दूसरा संकल्पनाओं या संबंधों यानी विभिन्न वस्तुओं के बीच की समानताओं पर ध्यान देता है। मानस के

व्यावहारिक कार्य-व्यापार को भी क्रोचे दो भागों में बांटते हैं : एक आर्थिक, जिससे क्रोचे का आशय है मस्तिष्क द्वारा की गई किसी भी प्रकार की उपयोगितावादी गणना और दूसरा कार्य-व्यापार है नैतिक क्रियाएँ। इनमें से प्रत्येक कार्यक्षेत्र किसी एक मूल्य से संबद्ध है- सौंदर्यशास्त्रीय गतिविधि का संबंध सौंदर्य से है, तर्क का संबंध सत्य से है, आर्थिक गतिविधि का संबंध उपयोग से है और नैतिक गतिविधि का संबंध परोपकार या कल्याण से है। क्रोचे ने 1901 से लेकर 1909 तक कुल मिलाकर तीन लंबी किताबें आत्मा के दर्शन की अपनी इस संकल्पना पर लिखीं जिनके नाम क्रमशः सौंदर्य-शास्त्र (1901) और संशोधित (1907) तर्क (1909) और व्यावहारिक का दर्शन (1908) है। अंतिम पुस्तक में क्रोचे ने मानस के आर्थिक और नैतिक प्रकार्यों पर प्रकाश डाला है।

वैसे क्रोचे महान जर्मन दार्शनिक कांट की उसी दार्शनिक परंपरा में आते हैं जिसमें एक और सहजानुभूतियों और दूसरी और संकल्पनाओं में भेद किया गया है लेकिन वे उस परंपरा को तोड़ भी देते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि संकल्पनाओं के अभाव में सहजानुभूतियाँ अंधी नहीं होती. सहजानुभूति अपने आप में संपूर्ण सचेतन अभिव्यक्तियाँ होती है, संकल्पनाएँ उन पर बाद में लागू की जाती हैं। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए क्रोचे ने इस बात की कल्पना की कि मानसिक गतिविधियों के रूप भिन्न-भिन्न स्तरों पर व्यवस्थित होते हैं। बुद्धि बिना सहजानुभूति के काम नहीं कर सकती जबकि सहजानुभूति को बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार मन के व्यावहारिक प्रकार्य को कार्य करने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है जिसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक नियमों की खोज होती है और नैतिक प्रकार्य व्यावहारिक विज्ञानों को बताता है कि वे किन लक्ष्यों को पर केंद्रित हों। इस प्रकार क्रोचे इसे अपनी सबसे महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि मानते हैं कि संपूर्ण मानसिक गतिविधि जिसको हम संपूर्ण यथार्थ भी कह सकते हैं, वह सौंदर्य-शास्त्र पर टिकी हुई है। इस सहजानुभूति का अपना कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इसमें अस्तित्व अथवा यथार्थ की संकल्पना सम्मिलित है: क्रोचे के अनुसार, जब सहजानुभूति अस्तित्व की चेतना के साथ मिल जाती है तो प्रत्यक्षीकरण होता है।

इसके अलावा क्रोचे मानते हैं कि विश्व अपने मूल रूप में इतिहास ही है क्योंकि सबसे निचले स्तर पर असंख्य व्यक्तियों के ये सौंदर्यशास्त्रीय अनुभव ही हैं जो एक विश्वव्यापी आख्यान की रचना करते हैं और उसमें यह चेतना भी शामिल है कि वे सत्य है, यानी उनका अस्तित्व है। अतः क्रोचे का मानना है कि अतीत भी उतना ही सत्य है जितना कि वर्तमान इसलिए विज्ञान की अपेक्षा केवल इतिहास ही यथार्थ का सर्वसमावेशी ब्यौरा प्रस्तुत कर सकता है। वे मानते हैं कि इतिहास की तुलना में जिन्हें हम प्राकृतिक विज्ञान कहते हैं वे अशुद्ध हैं, इतिहास से निम्न दर्जे के हैं। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो क्रोचे की आपत्ति यह है कि विज्ञान के नियमों या प्रकृति के नियमों का किसी ने प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया है। इन्हें तो केवल किसी अवधारणा या सिद्धांत को बनाने की सुविधा के लिए कल्पित किया गया है। इसलिए भले ही हम आज के वैज्ञानिक युग में इस बात को सुनकर कितना भी आश्चर्यचकित हों लेकिन क्रोचे इन प्राकृतिक नियमों और वैज्ञानिक संकल्पनाओं को असत्य बताते हैं और विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन को जीवन या

जगत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बिल्कुल आवश्यक नहीं मानते। उनका मानना है कि इनका महत्व मुख्य रूप से व्यावहारिक है इससे अधिक कुछ नहीं।

क्रोचे इससे आगे बढ़कर यह भी कहते हैं कि अधिकांश संकल्पनाएँ वे चाहे किसी भी वस्तु की हों केवल व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाई गई हैं। अतः इन संकल्पनाओं पर आधारित विज्ञान कितने भी सटीक क्यों न हों वे कभी भी सत्य या ज्ञान तक पहुँचने का दावा नहीं कर सकते। यही बात गणित पर भी लागू होती है। इसके विपरीत जिन्हें क्रोचे शुद्ध संकल्पनाओं का नाम देते हैं उनमें अनिवार्य रूप से अभिव्यंजनात्मकता, सार्वभौमिकता और ठोसपन के गुण होते हैं और उनके निष्कर्ष ऐंद्रिक अनुभव पर नहीं टिके होते बल्कि अनभव पूर्व संश्लेषण पर टिके होते हैं। दूसरे शब्दों में इसका आशय यह है कि वे सभी वस्तुएँ जिनको हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं या जिनकी कल्पना करते हैं- या प्रत्येक प्रतिनिधित्व या सहजानुभूति - में ये तीनों गुण अवश्य होते हैं। यानी ऐसा कोई अनुभव नहीं हो सकता जो किसी ठोस वस्तु का अनुभव न हो, प्रत्येक अनुभव सार्वभौमिक इसलिए होगा क्योंकि वह ऐसे अति सामान्य असंख्य अनुभवों का केवल एक उदाहरण होगा और अभिव्यंजनात्मक इसलिए होगा क्योंकि हम शब्दों में उसके बारे में बता सकते हैं। शुद्ध संकल्पनाओं के उदाहरण बहुत कठिनाई से मिलते हैं लेकिन क्रोचे ने जिनको शुद्ध संकल्पनाओं की कोटि में रखा है उनमें गुणवत्ता और सौंदर्य की संकल्पनाएँ भी आती हैं। क्रोचे द्वारा की गई व्यवस्था के अनुसार यही तर्क का कार्यक्षेत्र है।

क्रोचे और उनके अनुयायी कॉलिंगवुड में एक बहुत महत्वपूर्ण अंतर सहजानुभूति के घटकों को लेकर है क्योंकि यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सहजानुभूति के घटक कौन से होते हैं यानी सहजानुभूति किन तत्वों से निर्मित होती है। कॉलिंगवुड का मानना है कि सहजानुभूति इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान से निर्मित होती है हालांकि इसका निर्माण करने वाले घटकों में इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त मन पर पड़ने वाला उनका प्रभाव भी शामिल है। लेकिन क्रोचे के लिए सहजानुभति में एक जैविक एकता है इसलिए उसको टुकड़ों में बांटकर उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। उन टुकड़ों को फिर से जोड़कर आप सहजानुभूति का पुनर्निर्माण नहीं कर सकते। क्रोचे ने सौंदर्य-शास्त्र की जो व्याख्या की है उसको देखकर लगता है जैसे वे भी कांट के पारलौकिक सौदर्यशास्त्र के रास्ते पर ही चलना चाहते हैं। कांट की तरह वे भी यही मानते हैं कि कला अनुभव का अपेक्षाकृत संकीर्ण ही सही लेकिन बहुत गहराई में जाने वाला क्षेत्र है। चूंकि सामान्य व्यक्ति इतनी गहराई में नहीं जा सकते अतः यह सामान्य व्यक्तियों के लिए नहीं है लेकिन हम देखते हैं कि क्रोचे कांट से ठीक विपरीत दिशा में जाते हुए कहते हैं कि कला हर जगह विद्यमान है और सामान्य सहजानुभूति और कलाकृतियों की सहजानुभूति में केवल परिमाण का अंतर है गुणवत्ता का नहीं। क्रोचे के लिए यह बात बहुत महत्वपूर्ण है।

वस्तुतः क्रोचे का मानना है कि, हमें इस वर्गीकरण को कस के पकड़े रहना चाहिए क्योंकि सौंदर्य-शास्त्र (जो साहित्य का विज्ञान है) के साहित्य का सच्चा स्वरूप प्रकट करने में यानी मानव स्वभाव में उसकी सच्ची जड़ों को दिखाने में असमर्थ रहने का एक प्रमुख कारण है, सामान्य आध्यात्मिक जीवन से उसका विच्छेद। सौंदर्य-शास्त्र को एक तरह का विशेष प्रकार्य या एक आभिजात्य क्लब बना दिया गया हैं। पर्वतों से

अलग पत्थरों की कोई विशेष रासायनिक अवधारणा नहीं हो सकती। इसी प्रकार निम्नतर सहजानुभूति का विज्ञान अलग और उच्चतर सहजानुभूति का विज्ञान अलग हो ऐसा नहीं हो सकता। इसी तरह सामान्य सहजानुभूति और कलात्मक सहजानुभूति का भी भिन्न-भिन्न विज्ञान नहीं हो सकता। हमारे लिए क्रोचे के इस मंतव्य को सही ढंग से समझना आवश्यक है। क्रोचे यह नहीं कहना चाहते कि प्रत्येक वस्तु न्यूनाधिक रूप से कलाकृति है, वे कहना यह चाहते हैं कि प्रत्येक सहजानुभूति में किसी न किसी सीमा तक किसी कलाकृति की सहजानुभूति के गुण होते हैं। बस अंतर इतना है कि कलाकृति की सहजानुभूति में ये गुण कहीं अधिक मात्रा में होते हैं।

अब हम कला के संबंध में क्रोचे की सबसे प्रसिद्ध उक्ति की चर्चा करेंगे। क्रोचे ने घोषणा की थी कि "सहजानुभूति करने या होने का अर्थ है अभिव्यंजना करना।" क्रोचे की इस उक्ति के गूढ़ार्थ को समझने के लिए हमें पहले कुछ और चीज़ों को समझना होगा। तभी जाकर हम इस विरोधाभासी स्थिति को समझ पाएंगे क्योंकि प्रथमदृष्ट्या तो ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता। सबसे पहले तो यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि क्रोचे एक आदर्शवादी दार्शनिक थे। दर्शन में आदर्शवादी होने का अर्थ होता है केवल मनोजगत की सत्ता को स्वीकार करना, भौतिक जगत को सिरे से नकारना जैसे हमारे यहाँ आदि शंकराचार्य ने भी अद्वैतवाद के अपने दर्शन में किया था। इस प्रकार से देखेंगे तो कोई भी कलाकृति एक आदर्श या मानसिक वस्तु है, भौतिक नहीं। ऐसा नहीं है कि क्रोचे मानसिक वस्तुओं जैसे स्वप्न, विचार, भावनाओं आदि और किताबों, पेड़ों और टेबल कुर्सी जैसी चीज़ों में भेद नहीं कर पाते। वे भी अन्य सामान्य लोगों की तरह यह भेद करते हैं लेकिन फिर भी क्रोचे के लिए कलाकृति एक मानसिक वस्तु है। दूसरे शब्दों में कलाकृति दोहरे रूप में मानसिक है। दोहरे इसलिए क्योंकि वह मन में घटित होती है और मन ही में उसकी अभिव्यंजना भी हो जाती है, भौतिक जगत से उसका कोई लेना-देना नहीं।

क्रोचे के इस दावे का अर्थ यह है कि जब भी कोई श्रोता, पाठक या दर्शक किसी कविता को सुनता है, या किसी उपन्यास को पढ़ता है या किसी पेंटिंग को देखता है तो ऐसा करते हुए वह कलाकृति की अपने मन में पुनर्रचना कर रहा होता है। ये अवश्य है कि किसी कलाकृति की अपने मन में पुनर्रचना करते समय श्रोता, पाठक और दर्शक उस कलाकृति पर जिन सौंदर्यशास्त्रीय गुणों का आरोपण करता है वह उस समय की उसकी मानसिक दशा पर निर्भर करता है। अतः कलाकृति का स्वरूप पूरी तरह से आत्मपरक हो जाता है, उसकी कोई वस्तुपरक सत्ता नहीं रहती। क्रोचे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि जिस व्यक्ति को (उदाहरण के लिए) शास्त्रीय संगीत की कभी शिक्षा ही नहीं मिली, शास्त्रीय संगीत की उसकी कोई समझ ही न बनी वह इस प्रकार के किसी संगीत की पुनर्रचना अपने मन में कैसे कर पाएगा? स्पष्ट है कि क्रोचे इस संभावना से ही इंकार करते हैं।

11.5.1. भावनाओं की भूमिका

क्रोचे के लिए भावना किसी भी मानसिक गतिविधि का अनिवार्य भाग है बल्कि क्रोचे तो यह मानते हैं कि भावना अपने आप में एक प्रकार की मानसिक गतिविधि है। आमतौर से माना जाता है कि कलात्मक अभिव्यक्ति कलाकार की ऐसी विशिष्ट भावनाओं से संबद्ध होती है जो बहुत दुर्लभ होती हैं और केवल कलाकार में ही होती हैं लेकिन क्रोचे फिर एक बार इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हम एक परिमाणगत

अंतर को गुणात्मक अंतर समझने की गलती कर रहे हैं। वे कहते हैं कि भावना और कुछ नहीं है विचार, इच्छा और क्रिया की अपनी तमाम विविधताओं, कुंठा और संतोष की विविधताओं के साथ मानसिक गतिविधि में विद्यमान इच्छा है। क्रोचे के अनुसार, कला की एकमात्र कसौटी अभिव्यंजना की तारतम्यता है। यही कारण है कि क्रोचे रूप और कथ्य के भेद को भी भ्रामक बताते हैं। उनके अनुसार, जब सहजानुभूति प्रस्फुटित होती है तो किसी न किसी रूप में ही होती है। इसलिए सौंदर्य-शास्त्रीय दृष्टि से जिस रूप में हम कलाकृति को देखते हैं उससे अलग कथ्य हो ही नहीं सकता। उसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसी प्रकार कथ्य के बिना रूप की बात नहीं की जा सकती। यानी कहने का तात्पर्य यह कि रूप और कथ्य को पृथक नहीं किया जा सकता। दोनों में अपार्थक्य की स्थिति है। अतः क्रोचे का मानना है कि रूप तो सुंदर है लेकिन कथ्य बेकार है या कथ्य - अच्छा है किंतु रूप बेकार है का कोई अर्थ नहीं।

क्रोचे जब सहजानुभूति और अभिव्यंजना को एक बताते हैं तो प्रश्न यह पैदा होता है कि जो व्यक्ति चित्र बना ही नहीं सकता, पेंटिंग कर ही नहीं सकता उसके लिए इसका क्या अर्थ हो सकता है ? दूसरी ओर ऐसा व्यक्ति है जो किसी चीज़ को देखकर उसे हू-ब-हू काग़ज़ पर उतार सकता है। इसका अर्थ यह निकलेगा कि सहजानुभूति तो दोनों को हो रही है लेकिन एक उसको व्यक्त कर पा रहा है और दूसरा नहीं। तब फिर सहजानुभूति और अभिव्यंजना एक कैसे हुए ? क्रोचे इसका उत्तर दो प्रकार से देते हैं- एक तो वे कहते हैं कि हमारा यह समझना भ्रम है या यह हमारा पूर्वाग्रह है कि हमें बहुत व्यापक या पूर्ण सहजानुभूति होती है। सच्चाई तो यह है कि अधिकतर समय हमें अपने जीवन की भाग-दौड़ में बहुत क्षणिक सहजानुभूतियाँ होती हैं। वे कहते हैं कि, "हम...जिस दुनिया की सहजानुभूति करते हैं वह वस्तुतः बहुत छोटी दुनिया है। वह बहुत ही छोटी अभिव्यक्तियों से निर्मित है"।

दूसरी बात जो इस संबंध में क्रोचे कहते हैं वह यह है कि यदि कोई व्यक्ति किसी चित्र को बहुत ध्यान से देख रहा है। या किसी संगीत को बहुत ध्यान से सुन रहा है तो हमें इस बात को मानना चाहिए कि वह ऐसा करके वह अपने को व्यक्त कर रहा है। भले ही उसे कुछ समझ न आ रहा हो। हालांकि क्रोचे यह मानते हैं कि वस्तुओं को सीधे सपाट ढंग से देखने (जैसे कि छायाचित्रों में होता है) में वह लयात्मकता नहीं होती जो सच्चे कलाकार अपनी रचनाओं में ला पाते हैं।

क्रोचे जब सहजानुभूति और अभिव्यंजना को एक बताते हैं तो यहाँ उनका आशय अभिव्यंजना के उस अर्थ से एक और प्रकार से भिन्न हो जाता है जो आमतौर पर हम समझते हैं। आमतौर पर हम अभिव्यंजना का अर्थ लगाते हैं। किसी मनुष्य द्वारा अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करना चाहे वह क्रोध हो, प्रेम हो या ईर्ष्या हो लेकिन क्रोचे मनुष्य द्वारा की गई अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति और साहित्यिक अभिव्यक्ति में भी स्पष्ट भेद करते हैं। वे ज़ोर देकर कहते हैं कि जहाँ पहली प्रकार की अभिव्यक्ति प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन का विषय है। वहीं साहित्यिक अभिव्यक्ति सौंदर्य-शास्त्र का विषय है। हमें दर्द होता है तो हम रोते हैं या कराहते हैं, खुशी होती है तो हँसते हैं लेकिन इन अभिव्यक्तियों या अभिव्यंजनाओं का साहित्य से कोई संबंध नहीं। हालांकि क्रोचे ऐसा कहने वाले पहले सौंदर्यशास्त्री नहीं हैं बल्कि वे पश्चिम में ऐसी एक लंबी परंपरा का हिस्सा हैं।

क्रोचे ने कलात्मक अभिव्यक्ति और प्राकृतिक अभिव्यक्ति में जो स्पष्ट विभेद किया है उसका कारण कला की प्रकृतवादी अवधारणाओं को लेकर उनका तीव्र आक्रोश है। इसी प्रकार उनके आनंद को कला का उद्देश्य न मानने के पीछे भी यही कारण काम कर रहा है। वे इस बात से इंकार नहीं करते कि साहित्यजन्य आनंद और विषाद भी होते हैं लेकिन वे इन्हें वास्तविक आनंद और विषादों से बहुत भिन्न मानते हैं। वे इन्हें, सौंदर्यशास्त्रीय मूल्य और अवमूल्य की व्यावहारिक प्रतिध्वनि मानते हैं। बल्कि इससे भी अधिक वे यह मानते हैं कि यह विषय उनके द्वारा बांटी गई कोटियों में से व्यावहारिक के दर्शन में आता है न कि कला के दर्शन में। उनका मानना है कि सौंदर्यशास्त्र का सबसे बड़ा मूल्य सौंदर्य है और व्यावहारिक का उपयोगिता। वे यह भी मानते हैं कि आनंद का दायरा कला के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है इसलिए कला की यह परिभाषा नहीं दी जा सकती कि कला वह है जिससे आनंद मिलता है। आनंद तो और भी बहुत सी वस्तुओं से मिलता है। हालांकि क्रोचे यह मानते हैं कि सच्चा सौंदर्यशास्त्रीय आनंद, सौंदर्यशास्त्रीय वस्तु को देखने से ही मिलता है।

11.5.2. बाह्यीकरण

क्रोचे के लिए किसी चित्र को बनाना अथवा किसी मूर्ति को गढ़ना, या संगीत की किसी धुन को किसी वाद्य यंत्र पर बजाना आदि का कलाकृति या किसी रचना या अभिव्यंजित सहजानुभूति से कोई सीधा संबंध नहीं है। क्रोचे के कहने का अर्थ यह नहीं है कि कोई चित्रकार बिना चित्र बनाए भी काम चला सकता है या किसी संगीतकार को कभी संगीत को बजाने या गाने की आवश्यकता ही नहीं है। उनके कहने का आशय यह है कि कलाकार जब कला का संप्रेषण कर रहा है तो यह काम उससे उसकी सहजानुभूति ही करा रही है। चित्रों को बनाकर या मूर्ति को गढ़कर या किसी धुन को बजाकर वह औरों के लिए यह संभव बना रहा है कि वे भी वही सहजानुभुति कर सकें जो तब उस कलाकार को हुई थी। जब उसने कला की रचना की थी, सर्वप्रथम तो सहजानुभूति की भावभूमि तैयार करने के लिए और सहजानुभूति को विकसित करने के लिए स्मृति की आवश्यकता होती है (हालांकि गौण रूप में)।

दूसरे रचना को भौतिक रूप में बाह्य जगत में लाना इसलिए ज़रूरी होता है जिससे कि दूसरों को भी वही सहजानुभूति हो सके, जो कलाकार को हुई थी। इसे हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। निराला द्वारा 'तोड़ती पत्थर' कविता की रचना करने के लिए सबसे पहले तो यह आवश्यक था कि उन्होंने इलाहाबाद की किसी सड़क पर किसी मजदूरनी को पत्थर तोड़ते देखा हो। इसकी जीवंत स्मृति उनके मन में नहीं होती तो सहजानुभूति होने की सही दशाएँ ही नहीं बनती। जब एक बार सहजानुभूति हो गई यानी कविता बन गई निराला के मन में तो उसकी अभिव्यंजना भी साथ ही हो गई। यानी कविता निराला के मन में अभिव्यंजित हो गई लेकिन जब निराला उस कविता को कागज़ पर उतारते हैं तो इसलिए कि तोड़ती पत्थर के पाठक जब कविता पढ़ें तो उन्हें भी वही सहजानुभूति हो सके, जो उन्हें हुई थी। समझने की बात यह है कि कोई कविता लिखने से या पेंटिंग बनाने से या मूर्ति गढ़ने से नहीं अभिव्यंजित होती। कला तो सहजानुभूति होने के साथ ही मन में अभिव्यंजित हो जाती है।

क्रोचे के अनुसार, जब कोई कवि कविता लिखता है तो लिखने की व्यावहारिक प्रक्रिया में कविता नहीं बनती कविता तो कवि के मन में पहले से ही बनी होती है। इसी प्रकार कोई चित्रकार जब पेंटिंग बनाता है तब भी यही होता है कि वह मन में पहले ही बन चुकी पेंटिंग को कैनवस पर उतारता है। इसका एक प्रमाण यह है कि यदि ब्रुश गलत चल जाता है तो वो उससे बनी रेखा को मिटाकर फिर से अपने मन में बने चित्र के अनुसार, सही रेखा पेंट करता है। अतः कविता को लिखने, या पेंटिंग को बनाने, या संगीत को पियानो पर बजाने के पीछे कलाकार की दूसरों से संप्रेषण की इच्छा काम कर रही होती है। लेकिन संप्रेषण की प्रक्रिया को रचना प्रक्रिया समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। रचना तो तभी हो जाती है जब कलाकार के मन में सहजानुभूति होती है बल्कि साथ ही साथ अभिव्यंजना भी हो चुकी होती है। अतः संप्रेषण की प्रक्रिया अभिव्यंजना की प्रक्रिया भी नहीं है। हालांकि क्रोचे मानते हैं कि अभिव्यंजना और संप्रेषण की सीमा रेखाओं का निर्धारण करना सरल नहीं है क्योंकि दोनों प्रक्रियाएँ बहुत जल्दी-जल्दी बदलती रहती हैं और एक-दूसरे में बिल्कुल घुली-मिली हुई हैं। लेकिन दोनों में जो विभेद है वह बिल्कुल स्पष्ट है और उस भेद को कभी भूलना नहीं चाहिए। वे निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि कविता को लिखना या चित्र को पेंट करना या मूर्ति को गढ़ना कला का तकनीकी पक्ष है और तकनीकी पक्ष को हम कभी कला में शामिल नहीं कर सकते। तकनीकी पक्ष का संबंध संप्रेषण से होता है, कला से नहीं। इतना ही नहीं क्रोचे कला से उसे अलगाने के लिए तकनीक की परिभाषा भी करते हैं।

क्रोचे यह मानते हैं कि किसी कविता के पाठक या किसी नाटक, पेंटिंग या नृत्य के दर्शक का काम बस यही होता है कि वह सहजानुभूति को अपने मन में पुनः सृजित करें बल्कि इससे भी अच्छा यह है कि वह सहजानुभूति या कलाकृति/रचना को अपने मन में महसूस करें। हालांकि क्रोचे इस बात को भली भाँति जानते हैं कि पाठक या दर्शक इसमें असफल भी रह सकता है। वे असफल रहने के कारण भी बताते हैं। जल्दबाजी, चिंतन-मनन की कमी या विचारधारा परक पूर्वाग्रह के कारण यह हो सकता है कि कला में जो सुंदर नहीं है, वह सुंदर लगे और जो वास्तव में जो सुंदर है, वह असुंदर लगे। वे मानते हैं कि कलाकार और पाठक या आलोचक का काम वास्तव में एक ही है: ...आलोचक एक छोटा जीनियस हो सकता है और कलाकार एक बड़ा जीनियस... लेकिन हर हालत में दोनों की प्रकृति एक ही रहनी चाहिए। दांते का मूल्यांकन करने के लिए हमें अपने को उनके स्तर तक ऊँचा उठाना होगा। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सांसारिक दृष्टि से (यानी वास्तव में) हम दांते नहीं हैं लेकिन (कला के) मनन और निर्णय के उस क्षण में हमारी आत्मा और कवि की आत्मा एक हो जाती है और उस क्षण में कवि और पाठक एक हो जाते हैं।

हम यदि इस बात को भी छोड़ दें कि सहजानुभूति के स्तर पर कवि और पाठक एक हो जाते हैं तब भी यदि सुरुचि से हमारा आशय है। सच्चा सौंदर्य ढूंढ पाने की क्षमता और जीनियस का अर्थ है, सच्चा सौंदर्य पैदा करने की क्षमता तो दोनों चीजें एक ही है: एक इसलिए कि दोनों का अर्थ है, सहजानुभूतियाँ महसूस करने की क्षमता। क्रोचे के सौंदर्य-शास्त्र में सहजानुभूति का सर्वोच्च महत्व है। यदि सहजानुभूति हो जाती है तो कोई कलाकृति सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से बिल्कुल सफल है। अतः सौंदर्य के अन्य किसी मानक का

प्रश्न ही नहीं उठता। जिस पर किसी रचना को खरा उतरना है अथवा जिसको संतुष्ट करना है। क्रोचे कहते है: सुरुचि का मानक अपने आप में पूर्ण होता है लेकिन उस तरह से पूर्ण नहीं होता जैसे बुद्धि का होता है जो अपने को तर्क-वितर्क में व्यक्त करती है। सुरुचि का मानक पूर्ण होता है कल्पना की सहजानुभूति परक पूर्णता के साथ।

हालांकि हम देखते हैं कि किसी भी रचना को लेकर आलोचकों में बहुत मतभेद होते हैं। जिसे एक आलोचक महान रचना बताता है उसे दूसरा बिल्कुल औसत दर्जे की बताता है। इस बारे में क्रोचे का कहना है कि ऐसा मुख्य रूप से इसलिए होता है क्योंकि कलाकार और पाठकों, श्रोताओं या दर्शकों की मनोवैज्ञानिक दशाओं और भौतिक परिस्थितियों में भारी अंतर है। वे मानते हैं कि इसमें से अधिकांश को ऐतिहासिक व्याख्या के द्वारा दूर किया जा सकता है। सहजानुभूति न होने के अन्य कारण भी क्रोचे ने बताए हैं जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

11.6. अभिव्यंजनावाद के विविध आयाम

क्रोचे के एक अन्य मत का उल्लेख करना भी आवश्यक है और वह यह कि चित्रकला, मूर्तिकला, और संगीत आदि सभी कलाएँ उतनी ही भाषाएँ हैं। जितनी की कविता भाषा है बल्कि उनके अनुसार, भाषा अपने आप में ही काव्यात्मक होती है। अतः भाषा का दर्शन और कला का दर्शन एक ही चीज़ है। इसका कारण क्रोचे यह देते हैं कि 'भाषा को अभिव्यंजनापरक समझना चाहिए। वे कहते हैं कि ऐसी ध्वनियाँ जो कुछ भी व्यक्त नहीं करतीं, वे भाषा नहीं हो सकतीं।" एक और प्रश्न जिस पर क्रोचे ने विचार किया है वह है, किसी रचना की नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न। वे कहते हैं कि यदि हम किसी रचना को नैतिक या अनैतिक कहते हैं तो इससे उसके सौंदर्यशास्त्रीय महत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि सौंदर्य-शास्त्र और नैतिकता के क्षेत्र बिल्कुल अलग-अलग हैं, न केवल यह कि शुद्ध सहजानुभूति के क्षेत्र में कोई भी संकल्पना लागू ही नहीं होती। बल्कि और भी स्पष्ट रूप से कहा जाए तो किसी भी शुद्ध रूप से कलात्मक रचना को हम नैतिक या अनैतिक इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि क्रोचे के द्वारा निर्धारित आत्मा के दर्शन में सौंदर्यशास्त्रीय क्षेत्र नैतिक क्षेत्र से स्वतंत्र है और महत्व के क्रम में उससे पहले आता है। लेकिन आगे चलकर क्रोचे ने अपने दृष्टिकोण में संशोधन करते हुए कला के लिए नैतिकता के महत्व को स्वीकार किया।

1928 के अपने एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका वाले लेख में वे लिखते हैं कि' सभी काव्य का उत्स-मानव व्यक्तित्व है और चूंकि मानव व्यक्तित्व अपने को नैतिक दृष्टि से संचालित करता है। अतः सभी काव्य का उत्स नैतिक अंतरात्मा है।" लेकिन फिर भी यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि क्रोचे ने अपनी इस मूलभूत स्थापना को पूरी तरह से कभी छोड़ा नहीं कि कला को नैतिकता के तराजू में नहीं तोला जा सकता। वे यह मानते हैं कि कोई भी बड़ा कलाकार तब तक बड़ा हो ही नहीं सकता जब तक कि वह मानव के नैतिक हृदय में न झांक आए, क्योंकि नैतिकता आत्मा का उच्चतम क्षेत्र है। वे इसके लिए शेक्सपियर का उदाहरण देते हैं। लेकिन उनका तर्क यह है कि हमें नैतिक संवेगों (जिसका अर्थ है, नैतिक भावनाओं को देखने और

महसूस करने की क्षमता) और नैतिक दृष्टि से सही व्यवहार करने की क्षमता में भेद करना होगा। क्रोचे का मानना है कि कला से केवल नैतिक संवेग ही प्रासंगिक हैं।

क्रोचे ने सौंदर्य की प्रकृति के बारे में जो बातें कहीं हैं उनका उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि वे बहुत महत्वपूर्ण बातें हैं। वे कहते हैं कि 'यदि कोई उचित अभिव्यक्ति सचमुच उचित है तो वह अनिवार्यतः सुंदर भी होगी क्योंकि सुंदरता बिंब की सटीकता अतः अभिव्यक्ति की सटीकता के अलावा और कुछ नहीं है।' इसी प्रकार वे यह भी कहते हैं कि 'अभिव्यंजना और सुंदरता दो भिन्न संकल्पनाएँ नहीं हैं बल्कि एक ही संकल्पना है जिसको हम दोनों में से किसी भी नाम से अभिहित कर सकते हैं।' यानी दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

11.7. सारांश-

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद केवल साहित्य के स्वरूप पर ही विचार नहीं करता बल्कि यह संपूर्ण मानसिक प्रकार्यों के संदर्भ में कला मात्र की रचना प्रक्रिया के संबंध में मौलिक विचार प्रस्तुत करता है। अभिव्यंजनावाद की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संकल्पना है, सहजानुभूति का सिद्धांत। सहजानुभूति की संकल्पना ही सौंदर्य-शास्त्र को क्रोचे की मौलिक देन है। लेकिन अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति को ऐसे अनुभूति नहीं मानता जो केवल साहित्यकार को ही होती है, सहजानुभूति सबको होती है। अभिव्यंजनावाद साहित्य या काव्य के किसी भी वर्गीकरण का विरोध करता है। वह साहित्य से अलग उसके किसी शास्त्र की आवश्यकता को नहीं मानता। अभिव्यंजनावाद रूप और कथ्य के भेद को स्वीकार नहीं करता। वह साहित्य या कला को एक अभिभाज्य जैविक इकाई मानता है। अभिव्यंजनावाद कला को नैतिकता और अनैतिकता के सरोकारों से परे मानते है। अभिव्यंजनावाद साहित्य में व्यक्त भावनाओं और जीवन में व्यक्त भावनाओं में भेद करता है।

11.8. बोध प्रश्न

1. क्रोचे द्वारा किए मानसिक गतिविधियों के वर्गीकरण पर दस पंक्तियों में प्रकाश डालिए।

2. सहजानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

सहायक ग्रंथ

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत-डॉ. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, हरियाणा ग्रंथ अकादमी।

2. पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, निर्मला जैन और कुसुम बांठिया, राधाकृष्ण।

3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र-देवेंद्रनाथ शर्मा, मयूर पेपरबैक्स।

डॉ. सूर्य कुमारी. पी.

202HN21

M.A. DEGREE EXAMINATION

SECOND SEMESTER

HINDI

Paper II - **THEORY OF LITERATURE (WESTERN)**

Time Three Hours　　　　Maximum 70 Marks

पाश्चात्य काव्य शास्त्र

किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखिए ।

सभी प्रश्नों के अंक समान हैं ।

1. (a) प्लेटो के काव्य - सिद्धान्त विष्य पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए । (14)

(अथवा)

(b) अरस्तू के काव्य सिद्धांतों की समीक्षा कीजिए ।

2. (a) रिचईस के मूल्य सिद्धान्त का निरूपण करते हुए साहित्यालोचना में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए । (14)

(अथवा)

(b) टी. एस. इलियट के काव्य सिद्धांतों का विवेचन करते हुए आलोचना के क्षेत्र में उनके स्थान को निर्धारित कीजिए । (14)

3. (a) 'कहानी' अथवा 'रेखाचित्र' की परिभाषा देकर उसके तत्वों का निरूपण कीजिए । (14)

(अथवा)

(b) महाकाव्य संबंधी पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ देते हुए उसके तत्वों पर प्रकाश डालिए ।

4. (a) अस्तित्ववादी साहित्य चिंतन की समीक्षा कीजिए । (14)

(अथवा)

(b) उपन्यास की परिभाषा देकर उसके तत्वों को समाझाइए ।

5. (a) किन्हीं दो विषय पर टिप्पणी लिखिए । (7)

(i) प्रबंध काव्य ।

(ii) आत्मकथा ।

(iii) एकांकी ।

(iv) मुक्तक काव्य ।

(अथवा)

(b) किन्हीं दो विषय पर टिप्पमी लिखिए ।

(i) जीवनी ।

(ii) गीतिकाव्य ।

(iii) संस्मरण ।

(iv) रिपोर्ताज ।

202 MA HIN

ORIGINALITY REPORT

1%	1%	0%	0%
SIMILARITY INDEX	INTERNET SOURCES	PUBLICATIONS	STUDENT PAPERS

PRIMARY SOURCES

1	anucde.info Internet Source	1%
2	K. M. Newton. "Chapter 5 Leavisite Criticism", Springer Science and Business Media LLC, 1988 Publication	<1%
3	Submitted to University of Mumbai Student Paper	<1%
4	conference.cusat.ac.in Internet Source	<1%
5	www.literaturemini.com Internet Source	<1%
6	arcadia.sba.uniroma3.it Internet Source	<1%
7	epgp.inflibnet.ac.in Internet Source	<1%
8	www.egyankosh.ac.in Internet Source	<1%
9	Submitted to IIMT University Student Paper	<1%

10	dn720005.ca.archive.org Internet Source		<1%
11	fr.scribd.com Internet Source		<1%
12	cvru.ac.in Internet Source		<1%
13	pt.scribd.com Internet Source		<1%
14	Submitted to Manipal University Student Paper		<1%
15	courses.essex.ac.uk Internet Source		<1%

Exclude quotes	Off	Exclude matches	< 14 words
Exclude bibliography	Off		

202 MA HIN

GRADEMARK REPORT

FINAL GRADE

/0

GENERAL COMMENTS

PAGE 1

PAGE 2

PAGE 3

PAGE 4

PAGE 5

PAGE 6

PAGE 7

PAGE 8

PAGE 9

PAGE 10

PAGE 11

PAGE 12

PAGE 13

PAGE 14

PAGE 15

PAGE 16

PAGE 17

PAGE 18

PAGE 19

PAGE 20

PAGE 21

PAGE 22

PAGE 23

PAGE 24

PAGE 25

PAGE 26

PAGE 27

PAGE 28

PAGE 29

PAGE 30

PAGE 31

PAGE 32

PAGE 33

PAGE 34

PAGE 35

PAGE 36

PAGE 37

PAGE 38

PAGE 39

PAGE 40

PAGE 41

PAGE 42

PAGE 43

PAGE 44

PAGE 45

PAGE 46

PAGE 47

PAGE 48

PAGE 49

PAGE 50

PAGE 51

PAGE 52

PAGE 53

PAGE 54

PAGE 55

PAGE 56

PAGE 57

PAGE 58

PAGE 59

PAGE 60

PAGE 61

PAGE 62

PAGE 63

PAGE 64

PAGE 65

PAGE 66

PAGE 67

PAGE 68

PAGE 69

PAGE 70

PAGE 71

PAGE 72

PAGE 73

PAGE 74

PAGE 75

PAGE 76

PAGE 77

PAGE 78

PAGE 79

PAGE 80

PAGE 81

PAGE 82

PAGE 83

PAGE 84

PAGE 85

PAGE 86

PAGE 87

PAGE 88

PAGE 89

PAGE 90

PAGE 91

PAGE 92

PAGE 93

PAGE 94

PAGE 95

PAGE 96

PAGE 97

PAGE 98

PAGE 99

PAGE 100

PAGE 101

PAGE 102

PAGE 103

PAGE 104

PAGE 105

PAGE 106

PAGE 107

PAGE 108

PAGE 109

PAGE 110

PAGE 111

PAGE 112

PAGE 113

PAGE 114

PAGE 115

PAGE 116

PAGE 117

PAGE 118

PAGE 119

PAGE 120

PAGE 121

PAGE 122

PAGE 123

PAGE 124

PAGE 125

PAGE 126

PAGE 127

PAGE 128

PAGE 129

PAGE 130

PAGE 131

PAGE 132

PAGE 133

PAGE 134

PAGE 135

PAGE 136

PAGE 137

PAGE 138

PAGE 139

PAGE 140

PAGE 141

PAGE 142

PAGE 143

PAGE 144

PAGE 145

PAGE 146

PAGE 147

PAGE 148

PAGE 149

PAGE 150

PAGE 151

PAGE 152

PAGE 153

PAGE 154

PAGE 155

PAGE 156

PAGE 157

PAGE 158

PAGE 159

PAGE 160

PAGE 161

PAGE 162

PAGE 163

PAGE 164

PAGE 165

PAGE 166

PAGE 167